

सहजानंद शास्त्रमाला

नियमसार प्रवचन नवम भाग

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री
पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी “सहजानन्द” महाराज

प्रकाशक

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास
गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001

प्रकाशकीय

प्रस्तुत पुस्तक 'नियमसार प्रवचन नवम भाग' 'अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी की सरल शब्दों व व्यावहारिक शैली में रचित पुस्तक है एवं सामान्य श्रोता/पाठक को शीघ्र ग्राह्य हो जाती है। इसमें गाथा 122 से गाथा 140 तक के प्रवचन प्रस्तुत हैं।

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला सदर मेरठ द्वारा पूज्य वर्णीजी के साहित्य प्रकाशन का गुरुतर कार्य किया गया है।

ये ग्रन्थ भविष्य में सदैव उपलब्ध रहें व नई पीढ़ी आधुनिकतम तकनीक (कम्प्यूटर आदि) के माध्यम से इसे पढ़ व समझ सके इस हेतु उक्त ग्रन्थ सहित पूज्य वर्णीजी के अन्य ग्रन्थों को

<http://www.sahjanandvarnishashtra.org/> वेबसाइट पर रखा गया है।

इस कार्य को सम्पादित करने में श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर इन्दौर का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है। ग्रन्थ के टंकण कार्य में श्रीमती मनोरमाजी, गांधीनगर, इन्दौर एवं प्रूफ चेक करने में श्रीमती प्रीति जैन, इन्दौर का सहयोग रहा है — हम इनके आभारी हैं।

सुधीजन इसे पढ़कर इसमें यदि कोई अशुद्धि रह गई हो तो हमें सूचित करे ताकि अगले संस्करण (वर्जन) में त्रुटि का परिमार्जन किया जा सके।

विनीत

विकास छाबड़ा

53, मल्हारगंज मेनरोड़

इन्दौर (म०प्र०)

Phone-0731-2410880, 9753414796

Email-vikasnd@gmail.com

www.jainkosh.org

शान्तमूर्ति न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णीमहाराज द्वारा रचित "सहजानन्द"

आत्मकीर्तन

हूँ स्वतंत्र निश्चल निष्काम। ज्ञाता दृष्टा आत्मराम॥टेक॥

मैं वह हूँ जो हैं भगवान, जो मैं हूँ वह हैं भगवान।
अन्तर यही ऊपरी ज्ञान, वे विराग यह राग वितान॥

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान।
किन्तु आशावश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अज्ञान॥

सुख दुःख दाता कोई न आन, मोह राग रूप दुःख की खान।
निज को निज पर को पर ज्ञान, फिर दुःख का नहीं लेश निदान॥

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम।
राग त्यागि पहुँचू निजधाम, आकुलता का फिर क्या काम॥

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जग का करता क्या काम।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूँ अभिराम॥
अहिंसा परमोधर्म

आत्म रमण

मैं दर्शनज्ञानस्वरूपी हूँ, मैं सहजानन्दस्वरूपी हूँ।।टेक।।

हूँ ज्ञानमात्र परभावशून्य, हूँ सहज ज्ञानघन स्वयं पूर्ण।
हूँ सत्य सहज आनन्दधाम, मैं दर्शन० ,मैं सहजानंद०।।१।।

हूँ खुद का ही कर्ता भोक्ता, पर में मेरा कुछ काम नहीं।
पर का न प्रवेश न कार्य यहाँ, मैं दर्शन० ,मैं सहजा०।।२।।

आऊं उतरूं रम लूं निज में, निज की निज में दुविधा ही क्या।
निज अनुभव रस से सहज तृप्त, मैं दर्शन० ,मैं सहजा०।।३।।

Table of Contents

प्रकाशकीय	- 2 -
आत्मकीर्तन	- 3 -
आत्म रमण	- 4 -
नियमसार प्रवचन नवम भाग	1
गाथा 122	1
गाथा 123	5
गाथा 124	9
गाथा 125	14
गाथा 126	19
गाथा 127	28
गाथा 128	32
गाथा 129	37
गाथा 130	42
गाथा 131,132	46
गाथा 133	56
गाथा 134	62
गाथा 135	66
गाथा 136	71
गाथा 137	76
गाथा 138	83
गाथा 139	87
गाथा 140	91

नियमसार प्रवचन नवम भाग

[प्रवक्ता- अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री 105 क्षुल्लक मनोहर जी वर्णी 'सहजानन्द' महाराज]

गाथा 122

वय.णोच्चारणकिरियं परिचत्ता वीयरायभावेण।
जो झायदि अप्पाणं परमसमाही हवे तस्स ॥122॥

परमसमाधि अधिकार का निर्देश- प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, आलोचना एवं प्रायश्चित्त के अधिकार के बाद अब परमसमाधि नाम का अधिकार कहा जा रहा है। इन समस्त प्रतिक्रमण आदिक उपायों का लक्ष्य परमसमाधि भाव है। आत्मा में रागद्वेष विषय-कषायों का अभाव होकर केवल ज्ञानप्रकाशमात्र का ही प्रकाश चलता रहे, इसको परमसमाधि कहते हैं। जो जीव परमसमाधि से विमुख हैं और विषय-कषाय भावों में लग रहे हैं, उस ओर ही जिनकी दृष्टि है वे पुरुष संसार के संकट सहते हुए काल गवाँ रहे हैं। इस आत्मा का कल्याण करने वाला भाव है तो यह परमसमाधि है। परमसमाधि भाव कैसे प्रकट होता है और उसका क्या-क्या स्वरूप है? इन सब बातों का वर्णन इन परमसमाधि अधिकार में कहा जा रहा है।

परमसमाधि की सिद्धि के लिए वचनपरिहार की आवश्यकता- यह परमसमाधि समस्त मोह रागद्वेष विभावों का, आत्मा के वास्तविक शत्रुओं का विध्वंस करने में एकमात्र कारण है। जो पुरुष वचनों के बोलने की समस्त क्रियाओं को त्यागकर वीतराग भाव से आत्मा का ध्यान करता है उस भव्य आत्मा के परमसमाधि होती है। व्यवहार और बाह्य पदार्थों के स्नेह में बढ़ना आदिक उपद्रवों का व्यावहारिक कारण है वचन बोलना। वचन बोलते हुए की स्थिति में समतापरिणाम आ नहीं सकता। राग की वेदना के बिना कोई वचन नहीं बोलता, इसलिए वचनों के उच्चारण का प्रथम परिहार कराया गया है।

परमसमाधि में अन्तः व बहिःजल्प का परिहार- यद्यपि कभी अशुभ क्रियाओं से हटने के लिए वीतराग सर्वज्ञदेव का स्तवन आदिक करना चाहिये, शास्त्रों का वाचन और उपदेश करना चाहिये। ये वचन उस काल में आवश्यक हैं। बड़े-बड़े योगीश्वर, मुनीश्वर भी प्रभुस्तवन, स्वाध्याय, वाचन, धर्म उपदेश आदिक वचन व्यवहार किया करते हैं तथापि वचनों के विषय का जो व्यापार है अर्थात् आत्मा का प्रयत्न है वह सब समाधिभाव का साक्षात् घातक है, अतः किसी भी प्रकार का वचनालाप न करना चाहिए। देखो सबसे प्रथम नियंत्रण किया गया है परमसमाधि भाव की प्राप्ति के लिए वचनव्यवहार का। वचनालाप का सर्वथा त्याग करना चाहिए और इतना ही नहीं कि ये बाहरी वचन ही त्यागे जायें किन्तु अन्तरंग में कुछ जो गुणगुनाहट चलती है वह शब्दरचना का अन्तरंग व्यवहार भी छूट जाना चाहिए। प्रायः सभी जीवों के कुछ भी परिज्ञान होता है तो वह परिज्ञान किन्हीं शब्दों को लेकर होता है, चाहे वे शब्द मुख से न बोले जायें,

किन्तु अपने अन्तरंग में वे शब्द उठते हैं ज्ञान के साथ-साथ। ऐसे इन शब्दों का इस जीव के साथ लगाव लग रहा है, उन अन्तर्जल्पों का भी परिहार करके यह जीव परमसमाधि में लगता है।

सहजस्वरूप के ध्यान में परमसमाधि का अभ्युदय- जो आत्मा इस शुद्ध ज्ञायकस्वरूप अन्तस्तत्त्व का ध्यान करता है, बाहरी कुछ नहीं विचार करता, स्वयं का अपने आप स्वभाव से जो स्वरूप है उस स्वरूप में जो आत्मा को ध्याता है उस पुरुष के परमसमाधि होती है। इस परमपारिणामिक भाव अथवा शुद्ध अंतस्तत्त्व के ध्यान करने का साधन क्या है? स्वयं ही अभेद वीतराग भाव। जो स्वभाव समस्त कर्मकलंकों से रहित है, जिसमें न तो ज्ञानावरणादिक कर्म हैं और न रागद्वेषादिक भाव कर्म हैं और न जिनमें प्रदेश परिस्पंदरूप क्षेत्रकर्म हैं और न जिसमें जानन के परिवर्तनरूप भी कर्म हैं ऐसे उस कर्मकलंकमुक्त शुद्ध आत्मतत्त्व को जो ऐसे ही विशुद्ध ज्ञानध्यान से ध्याता है उसके परमसमाधि होती है।

त्रिकाल निरावरण परमब्रह्म- यह अंतस्तत्त्व त्रिकाल निरावरण है, जो परविषयक विकल्प भाव को तजकर अपने अन्तर में अखण्डस्वरूप को निहारता है उसे यह आत्मा दर्शन दे रहा है। यह त्रिकाल निरावरण है। वस्तु के स्वभाव पर कभी भी आवरण नहीं होता है, चाहे वस्तु का स्वभाव कुछ भी प्रकट न हो, न सही, पर स्वभाव का आवरण नहीं होता है। जैसे दृष्टान्त में मान लो पानी का स्वभाव ठंडा रहना है, चाहे पानी खूब खौल रहा हो अग्नि के सम्बंध से, किन्तु उस खौलते हुए पानी के होने पर भी पानी में ठंडा रहने का जो स्वभाव पड़ा है वह स्वभाव नहीं मेटा जा सकता है। बर्तन में पानी तेज गरम है, स्वभाव से बिल्कुल उल्टा हो गया है अग्नि के संयोग से, फिर भी इस जल में ठंडे होने का जो स्वभाव है वह स्वभाव कहीं भी नहीं गया है। गरम की हालत में भी पानी का स्वभाव ठंडा है इसे कोई मना नहीं कर सकता, पानी ठंडा नहीं है, पर स्वभाव ठंडा है। ऐसे ही इस आत्मा का स्वभाव है चैतन्य, ज्ञानदर्शन। इस ज्ञानदर्शन पर आवरण पड़ा है पर्याय अपेक्षा का और यह ढका हुआ है, प्रकट नहीं हो रहा है, लेकिन न भी निगोद जैसी भिन्न स्थिति में भी जीव पहुंचा हो, तिस पर भी जीव का स्वभाव चैतन्यभाव परमपारिणामिक तत्त्व निरावरण है। यदि स्वभाव पर आवरण हो जाय तो पदार्थ का ही नाश हो जायेगा, ऐसा त्रिकाल निरावरण यह मैं अंतस्तत्त्व हूं।

शाश्वत शुद्ध परमब्रह्म- यह मैं आत्मतत्त्व त्रिकाल शुद्ध हूं, अर्थात् वह वही का वही रहता है। इस जीव ने अनादिकाल से संसार में परिभ्रमण किया है, कर्मों का प्रेरण चतुर्गतियों में भटका अशुद्ध विकारी बन रहा है। इतने पर भी यह जीव जो कुछ भी होता है वह अकेले ही होता है, कोई दो पदार्थ मिलकर विकाररूप नहीं हुआ करते हैं और स्वभाव को यदि देखो तो विपरिणत होता ही नहीं। यद्यपि स्वभाव प्रकट नहीं है, यह जीव उल्टी-उल्टी चालें चलता है। रागद्वेष क्रोधादिक कषायें इन सभी विषयकषायों में यह दौड़ लगा रहा है, इतने पर भी स्वभाव नहीं बदलता है। आत्मा का स्वभाव है- ज्ञानानन्द चैतन्यभाव। वह चैतन्यभाव परिवर्तित नहीं होता है। ऐसा यह मैं शुद्ध आत्मा हूं।

कारणपरमात्मा- यह मैं अन्तस्तत्त्व कारणपरमात्मा हूं अर्थात् यह मैं परमात्मा होऊँगा तो अपने स्वभाव का आलम्बन करके ही होऊँगा। परमात्मा होने का जो कारण है अथवा जो परमात्मा में भी उपादान है वह उपादान भी मैं सदा से हूँ, अतः मेरा स्वभाव चैतन्यस्वरूप कारणपरमात्मा कहलाता है। मुक्त हो जाने पर कहीं कुछ दूसरी बात नहीं हो गयी। जो मैं हूँ वही वहाँ है। जो मेरे स्वभाव में है वही चीज नित्य व्यक्त है। मुक्त होने पर कोई नवीन बात नहीं बन जाती है। जैसे किसी पाषाण की कोई कारीगर मूर्ति बनाए तो वह कहीं दूसरी चीज से लिपटकर नहीं बनी है। जो थी उस पत्थर में, जो अंग अवयव थे उस पत्थर में वे अवयव अब प्रकट दिखने लगे हैं, व्यक्त हो गये हैं। इसी प्रकार जो मेरे में स्वरूप है, स्वभाव है, सत्त्व है, जो कुछ हो, यही विकारों से हटकर उपाधियों के सम्बन्ध से हटकर केवल रह जाता है। भगवान का स्वरूप कैवल्य कहलाता है, केवलज्ञान भी बोलते हैं। इसका अर्थ है सिर्फ ज्ञानमात्र रह गया है, जो था वह केवल अकेला निरपेक्ष रह गया है।

कैवल्य संपद- हम आपके साथ द्रव्य कर्म का सम्बन्ध है। ज्ञानावरणादिक 8 कर्म हैं, रागद्वेष, विषयकषाय शरीर का बन्धन भी एक क्षेत्र में है, ये तीन प्रकार की उपाधियां, विकार सम्पूर्ण संसारी जीवों के साथ हैं, ये तीनों ही बातें जब बिल्कुल दूर हो जायें, न तो ज्ञानावरणादिक कर्म रहें, न शरीर रहे, और न रागद्वेषादिक विभावपरिणमन रहे। जो कुछ परतत्त्व हैं वे परभाव दूर हो जायें और यह आत्मा जो था वही मात्र केवल रह जाय, इसी के मायने मोक्ष है। मोक्ष पाने के लिए कोई नयी चीज नहीं जोड़ना है, किन्तु अज्ञान दशा के कारण जो नई बातें जुड़ी हुई हैं, रागादिक भावकर्म, ज्ञानावरणादिक द्रव्यकर्म और शरीर, जो तत्त्व जो पदार्थ नये जुड़े हुए हैं उन पदार्थों को दूर करना है। जब समस्त परभाव दूर हो जाते हैं और केवल यह रह जाता है तब इसे निर्वाण होता है ऐसा कहते हैं। निर्वाण में भी उपादान कारण मैं हूँ। यह मैं कारणपरमात्मा शुद्ध और त्रिकाल निरावरण हैं। ऐसे इस अंतस्तत्त्व का जो आश्रय करता है उसके परमसमाधि प्रकट होती है।

परमसमाधि के लिए धर्मध्यान का सहयोग- परमसमाधि के व्यक्त होने में धर्मध्यान और शुक्लध्यान का पवित्र सहयोग रहता है। धर्मध्यान में तो कुछ उद्यम रहता है कुछ राग भी साथ बर्त रहा है, परन्तु वह वीतराग भाव का आश्रय करने वाला राग है। इस धर्मध्यान में रागद्वेषरहित स्वरूपतः स्वतःसिद्ध अन्तस्तत्त्व का आश्रय रहता है। अपने आत्मा के आश्रय से जो विशुद्ध ध्यान प्रकट होता है उसे धर्मध्यान कहते हैं। इस धर्मध्यान के बल से परमसमाधि प्रकट होती है।

परमसमाधि में शुक्लध्यान का सहयोग- यह धर्मध्यान जब अपना उत्कृष्टरूप रखता है तब वहाँ उद्यम ध्यान का रंच नहीं रहता, किन्तु अपने आप टंकोत्कीर्णवत् निश्चल ज्ञायकस्वरूप में यह उपयोग निरत हो जाता है, शुद्ध ज्ञानप्रकाशरूप वर्तने लगता है और उस शुक्लध्यान के बाद फिर ऐसी ही वीतरागता उसके बर्तती रहती है। इस परम शुक्लध्यान के प्रताप से ये योगीश्वर परमवीतराग तपश्चरण में लीन हो जाते हैं।

उत्कृष्ट तपश्चरण रागद्वेषरहित ज्ञाता द्रष्टा रहना है। मोही जीव के तपश्चरण की सुध नहीं है और कभी मोह न रहे, प्रारम्भिक दशा हो, धर्ममार्ग में बड़े तो उद्यम करता है यह कि रागद्वेष को त्यागकर मैं मात्र ज्ञाताद्रष्टा रहूँ, लेकिन ऐसा ज्ञाताद्रष्टा रहने के पुरुषार्थ में इस अभ्यासी को उपयोग की स्थिरता नहीं होती है। कुछ समय आत्मा के ध्यान में लगने पर घबड़ाहटसी हो जाती है। मालूम होता है कि यह आत्मा में मग्न होने का काम बहुत ऊँचा काम है। इसे बड़े बलशाली ही पालन कर सकते हैं। ऐसे इस ज्ञायकस्वरूप में अभेदरूप से निरत रहने रूप शुक्लध्यान के बल से जो वीतराग होता है, समस्त उपरागों से जो दूर होता है उस भव्य पुरुष के यह परमसमाधि प्रकट होती है।

परसमता का स्वरूप और महत्त्व- जहाँ यह परमसमाधि प्रकट होगी वहाँ द्रव्यकर्म और भावकर्म की सेना ठहर नहीं सकती है। इस आत्मा पर ये द्रव्यकर्म और भावकर्म सेना की तरह जुटकर इस एक आत्माराम पर आक्रमण कर रहे हैं, उस समस्त सेना को लूटने में समर्थ यह परमसमाधि है। इस समाधिभाव, समतापरिणाम, रागद्वेष न रहे, सर्वजीवों में परममैत्री हो जाय, किसी के प्रति विरोध भावना न रहे, ऐसी परमसमता अवर्णनीय है। आत्मा का कल्याण करने वाली चीज यह समता ही है। किसी कषाय में आकर किसी जीव के प्रति चाहे वह कितना ही उद्वण्ड हो, कितना ही विपरीत हो, मूढ़ हो, विरोधी हो, फिर भी उसको विरोधी मानना यह ज्ञानी का कर्तव्य नहीं है। ज्ञानी तो विरोधी जीव को भी जानता तो रहता है, पर विरोधभाव नहीं रखता है, वह सबका ज्ञाताद्रष्टा रहता है।

ज्ञानियों की विरोधी पर करुणा- भैया ! ज्ञानी के उपयोग में तो विरोधी जन कल्याण के पात्र हैं। अज्ञानी जन अपने विषयबाधकों को देखकर उन पर बड़ा रोष करते हैं, पर ज्ञानी जीव अपने किसी कार्य में बाधक निरखकर यों देखा करते हैं कि इनका उपादान ऐसा ही अज्ञानमय हैं, और ये अज्ञानरूप परिणाम रहे हैं। यह समाधि धीर, वीर, उत्तम ज्ञानी पुरुष के ही प्रकट होती है। जो जीव विषयकषायों के लोलुपी हैं, धन, जड़ वैभव की ममता रखते हैं ऐसे पुरुषों के हृदय में समताभाव का प्रकाश नहीं आ सकता है। यह आत्मसम्पदा है, इस अमूर्त सम्पदा के समक्ष तीन लोक का एकत्रित वैभव भी न कुछ चीज है। आत्मा को क्या चाहिये? शान्ति और आनन्द। जो भाव शान्ति और आनन्द को पूर्णरूप से दिया करे उससे बढ़कर सम्पदा और क्या हो सकती है? आत्मा की सम्पदा आत्मा से भिन्न नहीं है। जो आत्मा से भिन्न है वह आत्मा के शान्ति और आनन्द को कर सकने वाला नहीं है। ऐसी यह परमसमता, किसी भी पदार्थ में राग और विरोध न हो ऐसी समाधि किन्हीं ही उत्तम पुरुष के प्रकट होती है।

स्वयं की अन्तर्दृष्टि हुए बिना साधुसंतों के अन्तरंग के परिचय का अभाव- इस सहज आत्मसम्पदा का जब तक हम अनुभव नहीं करते तब तक हम साधुसंतों की विशेषता को नहीं जान सकते हैं। जो जीव अपने आपमें विकल्पभावों को तजकर निर्विकल्प शुद्ध ज्ञानप्रकाशमय अनुभव कर सकते हैं वे ही मनुष्य का माहात्म्य जान सकते हैं। साधुसंतों के अन्तरंग में क्या बर्त रहा है? वह कौनसी दृष्टि है जिस दृष्टि के पा

लेने से यह साधु-पुरुष कृतार्थ हो रहा है और निरन्तर निर्व्याकुल प्रसन्न रहता है, उस मर्म का परिचय तब तक नहीं हो सकता जब तक कि यह इस ज्ञानप्रकाश का स्वयं अनुभव न कर ले। दूसरे लोग मिठाई खाते हैं उनको कैसा आनन्द आता होगा? इसकी परख वही कर सकता है जिसने उस मिठाई का स्वाद लिया हो, इस ही तरह ज्ञानीपुरुष किस भाव में रहा करते हैं, उनके अन्तरंग में कौनसी गुथी सुलझ गयी है, उनके कौनसा प्रकाश प्रकट हुआ है जिससे वे धीरे, प्रसन्न कर्मबोझ से हल्के अनाकुल मोक्षपथगामी हुआ करते हैं, उस तत्त्व का परिचय पाना हो तो हमें भी उन जैसा ज्ञाताद्रष्टा रहकर अपने आपमें इस सहज परमात्मतत्त्व का अनुभव करना होगा। इस अनुभव के प्रसाद से अपनी भी गुथी सुलझ जाती है और परमेष्ठी का भी माहात्म्य समझ में आ जाता है। यों सर्वकल्याण की प्राप्ति कि लिए परमसमाधिभाव होना चाहिए। उस समाधि का ही इस अधिकार में वर्णन चलेगा।

गाथा 123

संजमणियमतवेण हु धम्मज्झाणेण सुक्कझाणेण।

जो झायइ अप्पाणं परमसमाही हवे तस्स ॥123॥

ध्यान द्वारा परमसमाधि- जो भव्य आत्मा संयम, नियम और तप के द्वारा तथा धर्मध्यान और शुक्लध्यान के द्वारा आत्मा को ध्याता है उस भव्यआत्मा के परमसमाधि होती है। इन वाक्य में समाधि का लक्षण भी आ गया, जहाँ अन्तःस्वरूप में संयमन है और बाह्य में विषयकषायों का निरोध है वहाँ परमसमाधि होती है। जहाँ निज शुद्ध आत्मा की आराधना में लीनता है वहाँ परमनियम है। जहाँ निज चैतन्यस्वरूप में अपने उपयोग को तपाना है और बाहर के कितने भी उपद्रव आने पर रंच भी खेद न मानने का तप है वह सब परमसमाधि है। जहाँ पुरुषार्थ करके अपने शुद्ध ज्ञायकस्वरूप के प्रति उपयोग करके शुद्ध आत्मा का ध्यान किया जाता है वह धर्मस्थान है, यह भी परमसमाधि का रूप है और जहाँ रागद्वेष का परिणाम नहीं है, शुद्ध ज्ञाताद्रष्टा रहा करना है, ऐसे शुद्ध परिणमन का नाम शुक्लध्यान है, यह भी परमसमाधि है।

परमसमाधि में संयम का अनिवार्य सहयोग- संयम का अर्थ है समस्त इन्द्रिय के व्यापारों का त्याग कर देना। स्पर्शनइन्द्रिय अपने विषय में न लग रही हो; प्राण, चक्षु, श्रोत्र ये सभी इन्द्रियां अपने विषयों में प्रवृत्त न हो रही हों और यह मन भी किन्हीं बाह्य पदार्थों में न भटक रहा हो, अपना जो शुद्ध सहज ज्ञानस्वरूप है उस स्वरूप का ही ज्ञाता हो रहा हो, ऐसा जो भी विशुद्ध परिणमन है उसका नाम संयम है। समाधि कहते हैं जहाँ आधि व्याधि उपाधि समस्त शान्त हो जायें, केवल निर्व्याकुल शुद्ध ज्ञानप्रकाश ही

अनुभव में रहे। जिस जीव के मैं ज्ञानानन्दस्वभावमात्र हूं, ऐसा ही अनुभव चलता है उसे ही वास्तविक सम्पदा मिली है। ये जगत के झूठे ठाठ कभी आयें, कभी न रहें जब आयें तब भी क्लेश को पैदा करने के ही कारण होते हैं। जहाँ रंच भी चैन नहीं, शान्ति नहीं, ऐसे इन बाह्यसम्पदाओं का संयोग यह भी महा विपदा है। जिनको तत्त्वज्ञान नहीं हुआ है, जिसने अपने इस शुद्ध स्वरूप को नहीं पहिचाना है उनको तो यह संसार का भटकना ही लगा हुआ है। ये सब संकट संयम के बल से दूर हो सकते हैं। लोग इन्द्रिय के विषयव्यापार में अपनी चतुराई मानते हैं, मौज मानते हैं, पर मौज कहाँ? निरन्तर क्षोभ बना रहता है। विषयों का भोग कोई क्षोभ बिना भी कर सकता है क्या? ऐसा यह महान् विपदास्वरूप इन्द्रियविषय का उपभोग जहाँ रुक गया, उस संयमी के ही परमसमाधि प्रकट हो सकती है।

परमसमाधि के नियम का अनिवार्य सहयोग- नियम कहते हैं अपने आत्मा की आराधना में ही नियत हो जाना। नियम का अर्थ है भली प्रकार पूर्ण रीति से लग जाना। अपने आपके ज्ञानस्वरूप में जिनका उपयोग निरत हो गया है, जो अपने स्वभावभक्ति से चिगते नहीं हैं, जो किन्हीं भी बाह्य विषयों को रंच भी हितकारक नहीं मानते हैं, ऐसे योगीश्वरों को यह परमसमाधि प्रकट होती है। समाधि शान्ति के लिये है, शरीर के पोषण के लिए अथवा दुनिया में अपना चमत्कार फैलाने के लिए समाधि नहीं की जाती है। जैसे कि आजकल समाधि का यह रूप प्रचलित है कि जो संन्यासी बाबा अपना मुँह, नाक बंद करके जितनी देर तक श्वास रोके रहे, उसके उतनी बड़ी समाधि लोग कहा करते हैं कि अमुक 24 घंटों की समाधि लगाता है, यह सब शरीर की साधना है। उनका उपयोग शरीर की साधना में बना रहता है, शान्ति का उदय इस साधना में नहीं है। हाँ इतनी बात है कि जो प्राणायाम कर सकता है उसके चित्त के निरोध में बाह्य सहयोग मिल जाता है किन्तु इस सुविधा का सदुपयोग करे तो सहयोग है और दुरुपयोग करे, लोक में मेरी ख्याति हो, मैं बहुत बड़ी समाधि लगा सकता हूँ, लोक में मुझे इस समाधि के नाम पर अभीष्ट वस्तुओं की प्राप्ति हो ऐसा जो अपने आपमें उद्देश्य बनाकर समाधि प्राणायाम में प्रवृत्त होते हैं उन्हें शान्ति का अभ्युदय कैसे हो सकता है? आत्मस्वरूप में अपने चित्त को नियन्त्रित करने का जिनके लक्ष्य ही नहीं है वे समाधि की दिशा को भी नहीं प्राप्त कर सकते हैं। इस नियम में ही परमसमाधि प्रकट होती है

परमसमाधि में परमार्थतप का अनिवार्य सहयोग- अध्यात्म तप जो परमसमाधि का मुख्य साधक है वह है आत्मा को आत्मा के द्वारा लगा देना। तप में बड़ी घबड़ाहट लोगों को होती है। मोही जीव को अथवा रागी पुरुष को इस अध्यात्मतप में बड़ी घबड़ाहट है और कोई कोई मनचले तो यह शंका करने लगते हैं कि सिद्ध भगवान दुनिया के अंत में अकेले रहते हैं। न परिवार है, न मित्रजन हैं, न किसी से बोलते-चालते हैं, कैसे उनका समय कटता होगा? अरे ! वे अध्यात्मतप से तपे हुए निज आत्मा में एकमेक अभेदरूप से आनन्दमय परिणमन कर रहे हैं और वह परिणमन एक ही गति से निरन्तर हो रहा है। वहाँ आकुलता का तो नाम ही नहीं है। जिन पुरुषों को राग की आकुलता पैदा हुई है वे अपनी आकुलता

मिटाने के लिए कुटुम्ब से बातें करते हैं, मित्रों से सम्बन्ध रखते हैं। ये बातें तो रोग के इलाजरूप हैं, कर्तव्यरूप नहीं है। प्रभु के रागद्वेष, मोह का रोग ही नहीं उत्पन्न होता है, वे क्यों अपने आत्मतत्त्व से बाहर उपयोग लगायें? उनका यह अध्यात्मतप है कि अपने आत्मा को अपने आत्मा में ही लगाये रहते हैं।

विवेकियों द्वारा सुरक्षित धाम का अपरित्याग- जैसे बड़ी तेज बिजली जहाँ कड़क रही हो, गाज भी गिर रही हो, ओले भी पड़ रहे हों, ऐसे समय में किसी भी पुरुष को बहुत अच्छी कोठरी ठहरने को मिल जाय जहाँ पानी का प्रवेश भी नहीं हो सकता तो वह मनुष्य कोठरी छोड़कर क्या इन ओलों के तूफान में बाहर निकल भागेगा? अरे ! वह तो कोठरी में ही ठहरता है। इसी प्रकार जहाँ नाना आकुलताएँ, विषयों का रक्षण, संयोग-वियोग, हर्ष-विशाद, अनुकूल-प्रतिकूल परिणमन और यश कामनाएँ आदिक जहाँ अनेक उपद्रव बरस रहे हों ऐसी बाहरी दुनिया में संकट सहता हुआ यह जीव बड़े सुभवितव्य से उपद्रवरहित ज्ञायकस्वरूप का सुरक्षित निजगृह पा ले, जहाँ आकुलताओं का रंच भी प्रवेश नहीं है तो ऐसे आनन्द का धाम पाकर फिर इन बाह्य विभूतियों में कोई लगेगा क्या? यह तो अपने आपमें ही परिणमेगा। यों अध्यात्मतप के प्रसाद से इस जीव के परमसमाधि प्रकट होती है।

अन्तःक्रिया के आधारभूत परमपदार्थ के आश्रय में परमसमाधि- जो भव्य आत्मा अपनी अंतरंग क्रियाओं का आधारभूत, ज्ञप्ति की क्रियाओं के आधारभूत अपने आत्मा को ध्याता है उसके निश्चय धर्मध्यान होता है। उसका जो सहज धाम है, किसी परउपाधि की प्रेरणा से नहीं, न कुछ किसी बाह्य वस्तु का आश्रय करके, किन्तु अपने सत्त्व के कारण अपने आपमें जो अंतरंग में क्रिया होती है, शुद्ध ज्ञानपरिणमन होता है, उस अर्थपरिणमन का आधारभूत जो निज आत्मतत्त्व है वह जहाँ ध्यान में आ रहा है ऐसी परिणति को निश्चय धर्मध्यान कहते हैं। इस आत्मा की अन्तःक्रिया केवल शुद्ध जानन देखन की होती है। यह आत्मा आडम्बर का कर्ता नहीं है, बाह्य तन, मन, वचन की क्रियाओं का कर्ता नहीं है। धर्म आत्मा के ज्ञाताद्रष्टा रहने में है। रागद्वेष मोह न आए, केवल विश्व का जाननहार रह सके, ऐसी अपनी स्थिति बनाने में धर्म होता है, हाथ-पैर चलाने में धर्म के नाम पर ही सही किसी प्रकार की तन, मन, वचन की क्रियाएँ करने में धर्म नहीं है, कुछ उपयोग को धर्म की ओर लगाने में वे बाह्य वातावरणरूप हैं, पर निश्चय से तो आत्मा के भेदरूप जो शुद्ध क्रिया प्रकट होती है जाननदेखनरूप वही आत्मा की सच्ची यथार्थ करतूत है, अंतरंग क्रियाओं का आधारभूत यह आत्मपदार्थ है ऐसे इस धर्म को जो ध्याता है उस पुरुष के निश्चय धर्मध्यान होता है।

धर्मध्यान में ध्येयभूत ब्रह्मत्व- यह धर्मी चैतन्यस्वरूप है, जो चैतन्यस्वरूप सीमारहित है, यह चैतन्यस्वरूप इस मुझ इतने में रहने वाला है, ऐसी प्रदेश की सीमा बाँधी जाय तो स्वरूप का भान फिर नहीं रहा। स्वरूप में सीमा नहीं है, यह शाश्वत अंतःप्रकाशमान् है, इसमें किसी भी प्रकार की उपाधि नहीं है। बाह्य पदार्थ का अथवा कर्म का या कर्मजन्य परभाव का प्रवेश नहीं है। शुद्ध चैतन्यस्वरूप को जो

ध्याता है उसके ध्यान का ही अभ्यास बना है ऐसी विशुद्ध परिणति को निश्चय धर्मध्यान कहते हैं। यह धर्मध्यान अपने आत्मा के आश्रय से ही प्रकट होता है। ऐसा ध्यान बने तो वहाँ परमसमाधि प्रकट होती है।

निश्चय शुक्लध्यान में परमसमाधि- इस धर्मध्यान के फल में इससे भी विशुद्ध परिणति जागृत होती है। जहाँ फिर ध्यान, ध्याता, ध्येय का भी विकल्प नहीं रहता है। इस ध्यान के फल में वह अवस्था होती है कि यह भेद परक भी वहाँ चिंतन नहीं रहता, सो जब इन्हीं विकल्पों का जहाँ अभेद हो रहा है तो अन्य विकल्पों की तो कहानी ही क्या? यों अन्य सर्वविकल्पों से दूर होकर जो अपने ज्ञायकस्वरूप के अन्तर्मुख होता है उस अन्तर्मुख में होने वाली जो विशुद्ध परिणमनों की संतान है वह सब निश्चय शुक्लध्यान है। इस निश्चय शुक्लध्यान से परमतत्त्व में निश्चल स्थित रहना होता है।

निरञ्जन ब्रह्म के ध्यान में परमसमाधि- वह मेरा आत्मस्वरूप परमतत्त्व है, परमशरण है, वह किन्हीं भी इन्द्रियों के द्वारा जानन में नहीं आ सकता है। स्पर्शनइन्द्रिय इस आत्मस्वरूप को जान नहीं सकती है। रसनाइन्द्रिय की इस आत्मतत्त्व में गति नहीं है। ऐसे ही घ्राण, चक्षु, श्रोत्र इन्द्रिय का भी विषय आत्मा नहीं है। यह आत्मतत्त्व निरञ्जन है, इसमें रागद्वेष तक का भी तो अञ्जन नहीं लगा है। यह तो केवल शुद्ध ज्ञानप्रकाशमात्र है। ऐसे ज्ञानप्रकाशरूप परमतत्त्व में निश्चल स्थित हो जाना, इसको निश्चय शुक्लध्यान कहते हैं। इस उपाय से, इन्द्रिय संयम, आत्मनियमन और चैतन्यप्रतपन तथा निश्चय धर्मध्यान और शुक्लध्यान से, अध्यात्मसाधन से जो परमसंयमी इस अखण्ड, अद्वैत, चैतन्यस्वरूपमात्र आत्मा का ध्यान करता है उसके परमसमाधि प्रकट होती है। समता ही इस जीव का भला कर सकने वाली है। रागद्वेष, मोह परिणाम और रागद्वेष मोह के साधनभूत ये धन-वैभव, विषयसाधन, ये इस जीव का उद्धार करने में समर्थ नहीं हैं। ये तो इस जीव को भ्रमाकर, बहकाकर, भुलाकर संसारगर्त में पटकने वाले हैं। जो भव्य आत्मा इन उपद्रवों से अलग होकर इस आत्मतत्त्व का ध्यान करता है उसके परमसमाधि प्रकट होती है।

विविक्त ज्ञानस्वरूप के आलम्बन में परमसमाधि- भैया ! अपने आपके सम्बंध में चिंतन बनाना चाहिए। इस मुझ आत्मा का इस शरीर तक से भी सम्बंध नहीं है, यह शरीर भी छोड़कर मुझे जाना होगा, फिर अन्य वैभव, धन सम्पदा, घर मकान तो मेरे हो ही कैसे सकते हैं? सब कुछ यहीं छोड़कर जाना होगा। यह देह भी मेरा नहीं है, इसके भीतर जो रागद्वेष, क्रोध आदिक भाव होते हैं, अनेक कल्पनाएँ उठती हैं देखो तो प्राकृतिक बात कि ये कल्पनाएँ भी मुझ आत्मा के साथी नहीं हैं। ये भी होते हैं और अगले समय में नष्ट हो जाते हैं। इन पर भी हमारा कुछ अधिकार नहीं है। ये मुझमें बनते ही रहें, ऐसी इन पर मेरी शक्ति नहीं चलती है। ये भी नष्ट होने वाले हैं और जो ज्ञान हम आपने पाया है, इस छद्मस्थ अवस्था में जितना यह ज्ञान प्रकट हुआ है यह ज्ञान भी हमारा साथी नहीं है, यह भी मिट जाता है, विस्मृत हो जाता है, इसका भी ख्याल नहीं रहता है। मैं इन सबसे पृथक् एक चैतन्यस्वरूप हूँ, जो मेरा

स्वरूप है वह कभी मेरे से अलग नहीं हो सकता है। जो मेरा स्वरूप नहीं है वह त्रिकाल भी मेरे में नहीं आ सकता है। ऐसा यह मैं सबसे न्यारा केवल ज्ञानस्वरूप हूँ। इस ज्ञानस्वरूप के आलम्बन में परमसमाधि होती है। इस ज्ञानस्वरूप का आलम्बन ही मेरा ज्ञान है।

समाधि का आधारभूत धर्मी ब्रह्म- भैया ! जो पुरुष शुद्ध चैतन्यस्वरूप में अथवा निर्विकल्प समाधि में जहां विकल्पों की तरंग नहीं उठ रही है ऐसी उत्कृष्ट स्थिति में ठहरते हैं वे साधुजन ही सर्वप्रकार के विकल्पों से दूर हैं। मैं उनको वंदन करता हूँ समाधि का स्वरूप समाधिवान् के आधार से ही हो तो है। जैसे धर्म धर्मात्माओं के आधार में है, धर्म कहीं चलता फिरता नहीं नजर आता। कहां रखा है धर्म कि उस धर्म को उठा लिया जाय? जो धर्म के पालनहार निजस्वरूप के जाननहार संत पुरुष हैं वे धर्मात्मा ही तो साक्षात् धर्म हैं। धर्म को और कहां देखना? जैसा धर्म, धर्म के आधारभूत धर्मात्मा में ही रहता है ऐसा धर्मात्मा ही मानो धर्म है। जहां धर्म का आदर किया गया वहां धर्मात्मा का भी आदर किया जाता है, ऐसे ही यह रागद्वेषरहित परमसमाधि समाधिवान् के ही आधार में तो है। वह पुरुष जो इस समाधि में ठहरता है वह ज्ञानपुंजरूप सहज आनन्द से भरा हुआ है। इसके निकट इसके स्वरूप के ध्यान में आनन्द का मार्ग दिखता है। अन्य जगह तो सर्वत्र विपदा ही मिलेगी, किन्तु साधु के सत्संग में, साधु के निकट बसने में, इस विशुद्ध परिणमन में आत्मा को कल्याण प्राप्त होता है।

कल्याणार्थ आत्मसंकल्प और कर्तव्य- भैया ! अपना यह संकल्प होना चाहिये कि हमारा जीवन आत्मा की प्राप्ति के लिये है। ये बाह्य समागम छिद जावो, कहीं जावो, किसी अवस्था को प्राप्त हो, पर इनका आदर संसार में भटकाने वाला ही है- ऐसा जानकर इनके लिए ही मेरा जीवन नहीं है, ऐसा निर्णय करें। ज्ञानार्जन से, अध्ययन से, ज्ञानीजनों के सत्संग से धर्म की अपनी उन्नति करें और इस ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा का दर्शन करके इसका उपाय बनाकर इस ही में स्थिर होकर ऐसा आनन्द पायें जिस आनन्द में यह सामर्थ्य है कि अनन्त भवों के सर्वदुष्कर्मों का परिहार करके निरुपम, आलौकिक, विशुद्धआनन्द प्रकट कर देता है। जो सिद्ध भगवन्त हुए हैं ऐसा यह आनन्दस्वरूप आदर के योग्य है, विषयों का आनन्द आदर के योग्य नहीं है। खाया जाता है जीने के लिए, जिया जाता है शरीर को धर्मक्रियाओं में लगाने के लिये, शरीर को धर्मक्रियाओं में लगाया जाता है आत्मा का विशुद्ध ध्यान बनाने के लिए, आत्मा का निर्मल ध्यान बनाया जाता है एक इस सहज स्वभाव के शुद्धविकास के लिए। आत्मा के सहज स्वरूप का विकास हो, इसके लिए ही पाये हुए समस्त तन, मन, धन, वचन आदिक हैं, ऐसा निर्णय करके इस ज्ञानविकास के लिए ही अपना जीवन लगाना चाहिये।

गाथा 124

किं काहदि वणवासो कायकलेसो विचित्त उववासो।
अज्झयणमौणपहुदी समदारहियस्स समणस्स।।124।।

समता का महत्व- समता का नाम परमसमाधि है, रागद्वेष न होकर केवल ज्ञाताद्रष्टा रहना इसका नाम है समता। जिस योगी के समता नहीं है उस योगी को जंगल में रहना कौनसा अभीष्ट सिद्ध करेगा? जो रागद्वेष से मलिन है, विषयकषाय के अभिप्राय वाले हैं उनको जैसे जंगल में रहना, शहर में रहना बराबर है। जंगल में रहकर उनकी कौनसी सिद्धि होगी? जहाँ समतापरिणाम नहीं है वहाँ विकल्पों के कारण क्लेश ही निरन्तर होता रहता है। समता ही सत्य सहज आनन्द को उत्पन्न करने में कारण है। जो समस्त कर्म-कलंकों को छूटा देता है अथवा सर्वप्रकार के भावकर्मों के, प्रक्रियावों के कलंक से दूर है, ऐसे आनन्द का कारण तो यह परमसमता है।

समता के बिना क्लेशजालों की उत्पत्ति- जगत् में जो भी जीव दुःखी हो रहे हैं वे समता के बिना हो रहे हैं, दूसरा कुछ क्लेश ही नहीं है। अपना कुछ मान लिया, कुछ पराया मान लिया, बस इसी स्व-पर के पक्ष में रहकर अनुकूल घटनाओं को समझकर यह दुःखी हो रहा है। जैसे मान लो आज यह जीव हिन्दुस्तान में है तो हिन्दुस्तान के खिलाफ जो भी देश हैं वे देश इसे अनिष्ट लग रहे हैं, उनको यह शत्रु मान रहा है और मरण करके उन्हीं देशों में उत्पन्न हो जाय तब उसके लिए यह देश अनिष्ट हो जायेगा और नया देश इष्ट हो जायेगा।

उन्मत्त का व्यवहार- जैसे पागल पुरुष का इष्ट क्या और अनिष्ट क्या? अभी किसी से बड़े प्रेम की बात करता है तो थोड़ी ही देर बाद उसे वह गाली सुनाने लगता है। जिसे गाली दे रहा है तो थोड़ी देर बाद उससे प्रेम करने लगता है। उस पागल का ज्ञान मलिन हो गया है उसका क्या भरोसा है? उसमें कुछ टिकाव ही नहीं है, ऐसे ही मोह की मदिरा पीकर यह जीव पागल हो रहा है, इस कारण इसके किसी एक ओर टिकाव ही नहीं है, कहां टीके यह? थोड़ी देर को मनुष्यपर्याय में है तो इसे अपना मानता है, मरण करके जिस पर्याय में जायेगा उसे अपना मान लेगा। आज जिसे मित्र जाना जा रहा है कषाय अनुकूल पड़ने से, कदाचित् मन की स्वार्थवासना के विरुद्ध क्रिया बन जाय तो उसे विरोधी मानने लगेगा। यह मोही जीव ठीक पागल की भांति है। आज किसी से प्रेम में वार्तालाप कर रहा है तो कहो कल उसी से शत्रुता का बरताव होने लगे।

समतारहित का वनवास निष्प्रयोजन- जिस पुरुष के तत्त्वज्ञान नहीं है उसके समता नहीं है, उसके अनाकुलता नहीं है। जो समतारहित साधु हैं, जिन्हें अपने पराये का पक्ष लगा है- यह मेरा शास्त्र है, यह दूसरे का शास्त्र है, यह मेरा नाम है, यह दूसरे का नाम है, इसमें मेरी बड़ाई, इसमें मेरी बड़ाई नहीं है, कितनी तरह के पक्ष लग रहे हैं। इन्द्रिय के विषयों के भी पक्ष हैं, यह मिष्ट भोजन है, यह नीरस भोजन

है, यहां अच्छा संगीत होता है, यहां तो कुछ भी नहीं होता है आदिक किसी भी प्रकार के पक्ष लगे हों तो ऐसे समतारहित साधु के किसी एकान्त में, वन में, कहीं भी निवास करने से कौनसा प्रयोजन सिद्ध होगा? मुक्ति का मार्ग तो नहीं हो सकता। जो द्रव्यलिंगधारी योगी हैं, जिन्हें ज्ञान और वैराग्य नहीं जगा है, केवल निर्ग्रंथ भेष है, नग्न है, दिगम्बर है और इतना ही नहीं, अपने मूल गुणों के पालन करने में सावधान हैं फिर भी समता नहीं है, अन्तरंग में तत्त्वज्ञान का प्रकाश नहीं है, अन्तर्मुहूर्त बाद अप्रमत्त दशा जिनके नहीं हो सकती है, ऐसे साधुओं को वन का निवास भी क्या मुक्ति दे देगा? वह द्रव्यलिंगधारी है, श्रमणाभासी हैं, श्रमणाभासी कहते हैं द्रव्यमुनि को।

साधुपद की श्रेष्ठता- साधुपद भी बड़ा उत्कृष्ट पद है। साधु परमेष्ठी कहलाते हैं। इनकी मुद्रा, इनकी वृत्ति किन्ही-किन्ही रूपों में अरहंत भगवान के अनुकूल होना चाहिए, तब वह साधु कहला सकता है। प्रभु अरहंत आरम्भ परिग्रह, रागद्वेष इनसे पूर्ण विरक्त हैं तो उन्हीं बातों में जिनकी गति चल रही हो, यही जिनका लक्ष्य हो, इस ओर जिनका सम्यक्आचरण हो उन्हें साधु कहते हैं। साधुओं के भी आरम्भ नहीं होता है। वे अपने शास्त्र- अध्ययन, समितिपालन और षट् आवश्यक कार्यों के सिवाय; वन्दनस्तवन, प्रायश्चित्त, कायोत्सर्ग आदिक आवश्यक कार्यों के सिवाय अन्य किसी काम में हाथ नहीं देते हैं। आरम्भरहित हैं, परिग्रह से भी रहित हैं, किसी वस्तु की वांछा नहीं, किसी की ओर लगाव नहीं, एक विशुद्ध ज्ञायकस्वरूप आत्मा की ही जिनकी धुन है वे निष्परिग्रही साधु कहलाते हैं।

समतारहित के एकान्तवास से मुक्ति का अलाभ- जिन्हें आत्मतत्त्व की कुछ सुध भी नहीं है, कभी इसका ज्ञान भी नहीं होता है तो आप जानो कि क्या उसके परमार्थतः साधुता रहा करती है। जो ज्ञानवैराग्य से शून्य हैं, जिनको आत्मा का अनुभव कभी नहीं होता, जिनकी दृष्टि परपदार्थों की ओर होती है, जिनके आत्मा का दर्शन नहीं हो पाता ऐसे पुरुष निर्ग्रंथ भेष में यदि हैं तो उन्हें श्रमणाभास कहते हैं, झूठे मुनि कहते हैं। ऐसे द्रव्यलिंगधारी श्रमणाभास के समता न होने के कारण मुक्ति का कोई कारण नहीं बन पाता है। वह वन में रहे, विविक्तशय्यासन करके रहे, महातप करे, अनशन आदिक दुर्धर आचरण करे तब भी मुक्ति का मार्ग नहीं मिल पाता है।

ज्ञानहीन समतारहित श्रमणाभास के वर्षायोग की निष्फलता- साधुओं की कितनी कठिन तपस्या है? वर्षाकाल में वृक्ष के नीचे ही वे खड़े रहते और ध्यान करते रहते हैं। जंगल में कहां महल है, कहां रहने का स्थान है? कहीं कदाचित् कोई साधारण गुफा आदिक मिल गयी तो वहां भी ये रह सकते हैं, पर यह एक तपस्या है कि वर्षाकाल में वृक्ष के नीचे बड़े-बड़े ध्यान करना। कोई तेज बरसात में पेड़ के नीचे खड़ा हो जाय तो उस पेड़ से बड़ी-बड़ी बूँदे टपकती हैं और मैदान में छोटी-छोटी बूँदे टपकती हैं, उन बड़ी-बड़ी बूँदों का सहना कठिन होता है, ऐसी कठिन बूँदों को भी वह साधु सहन करते हैं और ध्यान में रत रहते हैं। यहां एक शंका की जा सकती है कि फिर वे मैदान में ही खड़े रहकर क्यों नहीं ध्यान करते हैं? तेज

वर्षा में वृक्ष में नीचे अधिक बाधा होती है, पत्तों से जो बड़ी-बड़ी बूँदें बनकर गिरती हैं, क्या उनसे बाधा न होती होगी? देखा होगा कि पेड़ों के नीचे पानी के बूँदों के गड्ढे बन जाते हैं, बाहर में पानी की बूँदों के गड्ढे न देखे होंगे, किन्तु वे वृक्ष के नीचे खड़े होकर तप करते हैं। इसका कारण यह है कि पानी में जलकाय के एकेन्द्रिय जीव हैं, यह पानी वृक्ष पर टक्कर मारकर नीचे गिरता है तो प्रासुक हो जाता है। वे साधु षड्माय की हिंसा से दूर रहने वाले हैं, मैदान का पानी सचित्त है और वृक्ष के नीचे का पानी अचित्त है, इस कारण जीवरक्षा के प्रयोजन से वे वर्षाकाल में पेड़ के नीचे तपस्या करते हैं। उनका तप कितना अद्भूत है, लेकिन तत्त्वज्ञान नहीं है, समता नहीं है तो वृक्ष की तरह खड़े होकर तप करने में कहीं मोक्ष की सिद्धि होती है?

श्रमणाभास के ग्रैष्मतप से भी मुक्तिमार्ग का अलाभ- मोक्ष का मार्ग शरीर की चेष्टा से नहीं मिलता है किन्तु वस्तुस्वरूप का यथार्थ भान होने पर जो परतत्त्व हैं उनको त्याग दें और जो अंतस्तत्त्व है उसकी ओर लौ लगायें तो इस अद्भूत अंतःपुरुषार्थ से मोक्ष का मार्ग मिलता है। मुनिजन ग्रीष्मकाल में बैसाख-जेठ के महीने में जब कि बहुत कठिन धूप पड़ रही है, साधारणजन मकान से बाहर निकलने में भी बड़ी घबराहट मानते हैं ऐसे समय में भी पर्वत के शिखर पर किसी शिला पर बैठकर ध्यानमग्न रहते हैं। किसी को अभीष्ट चीज मिल रही हो, मानो कोई धन का लोलुपी है और उसे कहीं हजार-पाँच सौ का मुनाफा हो रहा हो तो वह भी कुछ-कुछ गरमी सह सकता है, धूप में जा सकता है लेकिन उसकी भी हद होती है। अत्यन्त कठिन संताप में हजार-पाँच सौ के मुनाफे की सम्भावना होने पर भी गृहस्थजनों को घबराहट है। अब सोच लीजिए कि साधुओं को ऐसी कौनसी अनुपम चीज मिल रही है कि जिस तत्त्व की रुचि से, जिस तत्त्व के प्रसाद से ये कठिन से कठिन ग्रीष्मकाल का आताप भी समतापूर्वक सह लेते हैं। कोई अंतरंग में अद्भूत शीतलता देने वाला निधान प्रकट हुआ है, वह है ज्ञानप्रकाश का अनुभव। उसका आनन्द आने पर फिर ये सब कष्ट न कुछ की तरह हो जाते हैं, लेकिन जो साधु तत्त्वज्ञान से शून्य हैं, समतापरिणाम से रहित हैं, जिनके रागद्वेष की तरंग बसी हुई है उनको ऐसे-2 बड़े तप भी क्या रंच भी मोक्षमार्ग प्रकट कर सकते हैं?

ज्ञानहीन पुरुष के शीतकालीन दुर्धरतप से भी मुक्ति का अलाभ- भैया ! विकल्पों का ही तो नाम संसार है। जो विकल्पों को अपने अंतरंग में ही बसाये रहता है वह संसार को बढ़ायेगा या मुक्ति को निकट करेगा? ऐसे बड़े तप भी समतारहित साधु के मोक्ष की सिद्धि करने वाले नहीं होते हैं। कितनी कठिन तपस्यायें हैं, जाड़े के दिनों में रात्रिभर दिगम्बर दशा में रहकर किसी नदी के तीर, जंगल में या किसी मैदान में रहकर आत्मध्यान करते हुए विराजे रहते हैं। जहां ठंडी हवाओं के थपेड़े बेचैन कर देते हैं, ऐसे भी परिग्रह सहन कर ले, किन्तु समता यदि नहीं है, तत्त्वज्ञान नहीं है, शुद्ध ज्ञान का अमृत का पान

नहीं हो रहा है तो ऐसा कठिन तप करने पर भी साधुओं के मोक्षमार्ग की सिद्धि नहीं होती है। अब जानो कि कितना हितकारी यह तत्त्वज्ञान है?

श्रमणाभास के महोपवासों से मुक्तिमार्ग का अलाभ- भैया ! ऐसे-ऐसे भी उपवास कर लिए जायें कि शरीर को दुर्बल कर दें। हाड़-चाम मात्र ही शेष रह गया है, अत्यन्त दुर्बलता शरीर में आ गयी है, बड़े क्लेश मालूम होते हैं, मोहीजनों को जिस दशा में, ऐसी भी शरीर की स्थिति बन जाय, देखा होगा कि कोई-कोई महीनों का उपवास कर डालते हैं, पीने को पानी का भी नाम नहीं है, ऐसे कठिन उपवास करके भी मोही, अज्ञानी, रागी, श्रमणाभासी मुनि को क्या मोक्षमार्ग मिल सकता है? जो तत्त्वज्ञान और वैराग्य से वासित हैं ऐसे पुरुष इन महोपवासों के बीच भी ज्ञानानुभव का शुद्ध आंतरिक भोजन किया करते हैं, उन्हें तृप्ति रहती है, पर समतारहित साधु को ऐसे कठिन महोपवास से भी कोई भला नहीं है। हाँ, स्वर्ग आदिक मिल जायेंगे, लेकिन वह भी संसार-दशा है और स्वर्ग मिलने पर भी विषयकषायों की ओर झुक गये तो कौनसी सिद्धि उन्हें प्राप्त हो गयी?

श्रमणाभास के अध्ययन का विपरीत लक्ष्य- साधुजन अध्ययन-कार्य में निरन्तर निरत रहते हैं। स्वाध्याय करना, गुरुओं से पढ़ना, कुछ याद करना, कुछ पाठ करना, इन सब उपायों से वे अध्ययन में प्रगति कर रहे हैं। खूब पढ़े वे, किन्तु लक्ष्य जिनका विशुद्ध नहीं है, तत्त्वज्ञान और आत्मप्रकाश जिनको प्रकट नहीं हुआ है उनका ऐसा विशाल अध्ययन भी क्या मोक्षमार्ग का आनन्द पैदा कर सकता है? कोई भाषाओं के ज्ञाता हो गए पर चित्त में बसा है यह कि लोग मुझे समझें कि हाँ यह विद्वान है अथवा वादविवाद करके हम सब पर विजय पायें आदिक बातों के पीछे घोर श्रम कर रहे हैं, फिर भी चूँकि आशय मिथ्या है, संसार से छूटने का चित्त में भाव नहीं है, एक वीतराग अवस्था पाकर मात्र ज्ञाताद्रष्टा रहने का लक्ष्य नहीं है तो ऐसा विशाल अध्ययन भी इस श्रमणाभास का क्या कुछ काम कर देगा? उससे भी कोई फल उपादेय नहीं प्राप्त होता है।

श्रमणाभास के मौन की अकिञ्चित्करता- ऐसे ही कितने ही साधुजन महीना-महीना, वर्ष-वर्ष का मौन ले लेने पर वचनों का त्याग कर देते हैं निरन्तर मौनव्रत भी रहा करता है फिर भी समतापरिणाम नहीं है, तत्त्वज्ञान नहीं है तो वह विकल्प ही तो अन्तर में गूँथेगा और बल्कि कहना तो कुछ चाहता है, पर मौनव्रत लेने से कह नहीं सकता है। सो एक व्याकुलता भी उस मोही पुरुष के हो सकती है। तब उसका यह मौनव्रत क्या कुछ उपादेय फल को दे सकता है? इतनी कठिन साधना भी श्रमणाभास को कार्यकारी नहीं हो पाती है और भी कार्य हों; जाप, माला फेरे, रातदिन जाप-जाप में ही जुटा रहे, बड़े-बड़े विधान महोत्सव आदिक व्यवहार धर्म की धुन में पिल रहा है, कितने भी कोई कार्य कर ले, लेकिन जो द्रव्यलिंगी साधु हैं, श्रमणाभासी हैं, ज्ञान वैराग्य से शून्य हैं जिन्हें पारमार्थिक ज्ञानप्रकाश नहीं मिला है उन साधुओं को किन्हीं भी तप से, व्रत से उपादेयफल प्राप्त नहीं हो सकता है।

आत्महित का सीधा स्वाधीन उपाय- भैया ! अब जानियेगा कि आत्महित का कितना स्वाधीन उपाय है तत्त्वज्ञान हो, समता रही आये तो इतना तप भी न कर सके, इतना कष्ट भी न उठा सके, किन्तु साधुता की सीमा में जो व्रत से रहना आदिक आवश्यक है वह निरारम्भ, निष्परिग्रह है, ज्ञानध्यान की लीनता समा जाय तो उसे तो सिद्धि है और जिसे ज्ञानानुभव नहीं हुआ है, वह कठिन से भी कठिन तप करे तब भी कोई सिद्धि नहीं है। पहाड़ पर रहे, वन में रहे, गुफा में रहे, झाड़ियों में रहे, वृक्षों के खोखलों में रहें, कहीं भी जाकर रहे, फिर भी ज्ञान का अनुभव नहीं हो सका है। अपने सहजस्वरूप का परिचय नहीं हो पाया है तो विकल्प का जाल ही गूँथकर वह साधु कर्मबंध ही कर रहा है, संवर और निर्जरा का पात्र नहीं है। इन्द्रिय का बड़ा-बड़ा संयम करे, रस परित्याग कर दे, बड़े उपवास करे, तीर्थयात्रा कर डाले, अध्ययन पूजा होम आदिक कार्य कर ले तब भी इस ब्रह्म की इस आत्मा की सिद्धि इन क्रियाओं से नहीं है।

आत्मज्योति के उपासक में परमसमाधि की पात्रता- कल्याणार्थी पुरुष बाह्य साधन के अतिरिक्त अन्य कुछ उपाय गुरुओं के सत्संग में रहकर ढूँढ़े, जिससे ज्ञान का प्रकाश मिले और आत्मसिद्धि हो। समतारहित प्राणियों को उपवास आदिक तपों से कोई भला नहीं है, इसलिए समता का निधान, अनाकुल जो चैतन्यस्वरूप है उस स्वरूप की उपासना में लगे। परमपिता, परमशरण, सारभूत तत्त्व एक यह ही है आत्मप्रकाश। इस तरह परमसमता अधिकार में समाधि की पात्रता किनके होती है, उनका इसमें निर्देश किया गया है। यह समाधि आत्मानुभवी संत के हुआ करती है।

गाथा 125

विरदो सव्वसावज्जे तिगुत्तो पिडिदिं दिओ।

तस्स सामाङ्गं ठाड़ इदि केवलिसासणे ॥125॥

समता का पात्र- जो सर्व तरह से विरक्त है, मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, कायगुप्ति का पालने वाला है, जिसने इन्द्रियों को निरुद्ध कर दिया है ऐसे भव्यपुरुष के सामायिक स्थायी होती है, ऐसा केवली भगवान के शासन में कहा गया है। सामायिक, समता दोनों का एक ही अर्थ है। चूँकि दिन में तीन बार जो व्रती पुरुष सामायिक करता है उसमें समतापरिणाम बनाने का यत्न किया जाता है, इसलिए उस क्रिया का नाम सामायिक रख दिया है। सामायिक वास्तविक मायने में समता का है और सामायिक में फर्क है। जाप में तो प्रभु का ध्यान किया जाता है किन्तु सामायिक में रागद्वेषों को तजकर निर्विकल्प बनकर ज्ञाताद्रष्टा रहने का यत्न किया जाता है। यह अन्तर है जाप और सामायिक में। संयममार्गणा में जहाँ संयम के भेद कहे गये हैं वहाँ सामायिक का नाम लिया जाता है- सामायिक, छेदोपस्थापन, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यातचारित्र। वहाँ सामायिक का प्रयोजन दिन में तीन बार जाप देने का नहीं है। साधु-संतों के

24 घंटा सामायिक रहा करती है अर्थात् वे संसार, शरीर, भोगों से पूर्ण विरक्त हैं, अतः उनकी किसी भी बाह्य साधना में राग और द्वेष नहीं होता है, इस कारण उनके समतापरिणाम बना रहता है।

परमसमाधि के उपाय का भी प्रदर्शन- यह सामायिक अर्थात् समतापरिणाम जो परमसमाधि स्वरूप है वह कैसे प्रकट होता है, इसका दर्शन इस गाथा में कराया गया है कि ऐसे मुनि के स्थायी सामायिकव्रत होता है अर्थात् सामायिक परिणाम ठहरता है। जो समस्त पापकर्मों के व्यापार से रहित हैं, जिन्होंने मन वश में किया है, किसी का बुरा चिन्तन नहीं कर सकते, जिसने वचन वश में किया है, किसी को अकल्याणवादी वचन न बोल सके, जिस शरीर को वश में किया है, हिंसाकारक चेष्टा कभी शरीर से नहीं कर सकते, ऐसे तीन गुणियों से सुरक्षित और सब प्रकार के इन्द्रिय व्यापारों से जो विमुख हैं ऐसे संयमी मुनि के सामायिकव्रत ठहरता है, यह बात इस गाथा में कही गयी है।

सर्व सावद्य और उनका प्रतिनिधि- सावद्य 5 प्रकार के होते हैं-हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह। यद्यपि सावद्य के ये 5 भेद कहे हैं फिर भी इनमें मुख्य हिंसा है। क्योंकि झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह में भी हिंसा होती है, सो पांचों प्रकार के पाप हिंसा में समा जाते हैं। प्रमाद से, कषायभाव से अपने और दूसरे के प्राणों का सताना, विह्वलता उत्पन्न करना, इसका नाम हिंसा है। लोक में 5 प्रकार के संसारी जीव हैं- एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और पंचेन्द्रिय। इनका प्राणघात होना सो हिंसा है।

एकेन्द्रियविघात- एकेन्द्रिय जीव वे हैं जिनके केवल स्पर्शन इन्द्रिय है। जिनके शरीर के अंगोपांग नहीं हैं जिनके मुख, पैर आदि भी प्रकट नहीं होते हैं, उसे स्थावर कहते हैं। वे एकेन्द्रिय 5 प्रकार के हैं- पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति। इन 5 प्रकार के जीवों में केवल एकरूप शरीर शरीर है, स्पर्शन ही सर्वस्व है, शरीर के अंगोपांग नहीं हैं, न मुख है, न नाक है, न हाथ हैं, न पैर हैं, न वे सिकुड़ सकते हैं, न चल सकते हैं वे स्थावर जीव हैं। जल नीची जमीन पाकर बह जाता है, किन्तु उसका नाम चलना नहीं है। अग्नि अपने स्वभाव से ज्वालाएँ उत्पन्न करती है, किन्तु यह चलती नहीं है, हवा भी चूँकि उसका बहना स्वभाव है, पर उसको चलना नहीं बोलते। कोई हाथ-पैर से सरक कर हवा चलती हो, ऐसी बात नहीं है। वनस्पति, रूख, पेड़ ये सब स्थावर हैं, जहाँ हैं तहाँ ही ठहरे हुए हैं, यों एकेन्द्रिय जीव का असंयमीजन अपने स्वार्थवश घात किया करते हैं।

साधु के एकेन्द्रियविघात का भी परिहार- साधु पुरुष इन एकेन्द्रिय जीवों का भी अपनी प्रवृत्ति से घात नहीं करते हैं। इस कारण साधुओं को भोजन न बनाने का नियम है। कोई श्रावक भोजन बनाए, सब घर के लिए रोज बनाते ही हैं, शुद्ध खायेँ रोज अथवा न भी खाते हों शुद्ध रोज, पर किसी दिन सभी घर शुद्ध खाये, ऐसे बने हुए शुद्ध भोजन में कोई साधु आ जाय और आहार कर जाय यह विधि धर्म में है। वे साधु अपने-अपने भोजन का निर्माण नहीं करते, क्योंकि इसमें हिंसा का दोष है और आसक्ति का दोष है। ये

नाना प्रकार के एकेन्द्रिय जीव हैं उनकी किसी प्रकार से हिंसा करना सो एकेन्द्रिय की हिंसा है। साधुजनों के एकेन्द्रिय जीव की भी हिंसा नहीं होती है।

साधुओं के विकलत्रय के हिंसा की असंभावना- दो इन्द्रिय जीव जिनके अंगोपांग प्रकट नहीं हुए, किन्तु किसी रूप में अंगोपांग प्रकट हो गए हैं, मुख भी बन गया है, जिह्वा भी है, जो जमीन पर सरक कर ही धीरे-धीरे चल पाते हैं ऐसे लट केंचुवा, जोंक, शंख, कौड़ी, सीप आदिक जीव दो इन्द्रिय कहलाते हैं। इन दो इन्द्रिय जीवों का प्राणघात करना सो दोइन्द्रिय जीव की हिंसा है। तीन इन्द्रिय जीव वे कहलाते हैं जिनमें पैर भी प्रकट हो गए हैं किन्तु उनके पैर अधिक होते हैं। चार पैर से ज्यादा तीन इन्द्रिय जीव के होते हैं, जैसे चींटी, चींटा, खटमल, जू, बिच्छू ये सब तीन इन्द्रिय जीव कहलाते हैं। अपने आराम के लिए अथवा अपने प्रसाद से इन जीवों का घात करना सो तीन इन्द्रिय जीव की हिंसा है। चारइन्द्रिय जीव वे हैं जिनके स्पर्शन, रसना, घ्राण और नेत्र भी प्रकट हो गए हैं। ऐसे जीव छोटे और उड़ने वाले होते हैं। मक्खी, मच्छर, टिड्डी, ततैया, भँवरा आदिक जीव चारइन्द्रिय जीव कहलाते हैं। अपने आराम के लिए अथवा अपने प्रसाद से इन जीवों का घात करना अथवा रागद्वेषवश इनकी हिंसा करना, सो चतुरिन्द्रिय जीवों की हिंसा है। इन विकलत्रिक हिंसा से भी परे साधु पुरुष होते हैं।

पंचेन्द्रिय जीव के विघात का महापराध- पंचेन्द्रिय जीव वे कहलाते हैं जिनके स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण ये पाँच इन्द्रिय प्रकट हुई हैं। ये कुछ तो मनरहित भी हो सकते हैं किन्तु प्रायः सभी पंचेन्द्रिय सैनी होते हैं, इनके मन और हो गया है। इस कारण इनका विकास पहिले के सब जीवों से अधिक है, अब संज्ञी जीव तो मुक्ति का मार्ग बताने में समर्थ हैं। सम्यग्दर्शन को नारकी, देव मनुष्य तो पैदा कर ही सकते हैं, तिर्यचों में भी घोड़ा, बैल, हाथी, सिंह, नेवला, सांप बन्दर ये सभी जीव सम्यग्दर्शन पैदा कर सकते हैं। मोक्षमार्ग का प्रथम सोपान सम्यग्दर्शन है, ऐसे विकास को प्राप्त हुए पंचेन्द्रिय जीवों की हिंसा करना यह पंचेन्द्रिय जीवों की हिंसा है, और इसमें उनके मोक्षमार्ग के विकास में बाधा डालने का भी बड़ा अपराध होता है।

भावहिंसा का प्रधान सावद्य- हिंसा में तो हिंसा होती ही है और यह हिंसा हुई है अपने आपके परिणाम खोटे करने से। जो अपने परिणाम खोटे रखता है वही इन जीवों के घात के लिए प्रवृत्ति करता है। इनका घात होना द्रव्यहिंसा है और अपने परिणाम बिगाड़ लेना भावहिंसा है। पापों का बंध भावहिंसा से होता है लेकिन जो भावहिंसा रखता है उसकी प्रवृत्ति से द्रव्यहिंसा होती है। इस कारण परजीवों के घात को हिंसा पाप बताया है। वस्तुतः तो अपने आपके जो परिणाम बिगाड़े हैं, कलुषित भावनाएँ हुई है वे सब पाप के कारण हैं।

असत्यवाद में हिंसा का समावेश- भैया ! हिंसा में तो हिंसा का पाप होता ही है, किन्तु झूठ में भी हिंसा का पाप समाया हुआ है। कोई पुरुष किसी दूसरे के सम्बन्ध में झूठ बात बोलेगा तो कुछ परिणाम

कलुषित करना पड़ा तभी झूठ बोल सकती है। कभी विषम साधनों में कोई बाधक हुआ, उसके दुःखी करने का परिणाम हुआ तो इन कलुषित भावनावों से प्रेरित होकर झूठ बोला जा सकता है। झूठ बोलने में दूसरे प्राणी का भी प्राणघात हुआ और अपने ज्ञान दर्शन शुद्ध प्राण का भी विघात हुआ। झूठ बोलने में भी हिंसा समायी हुई है।

स्तेय में हिंसा का समावेश- चोरी करने में भी हिंसा का पाप बना हुआ है। लोग धन को प्राण की तरह समझते हैं। मोह का उदय है, सत्यमार्ग का दर्शन नहीं हुआ, वस्तुस्वरूप ध्यान में नहीं है, अपनी सीमा, अपनी स्वरूप सत्ता समझ में नहीं है तो मोहियों के जगत में अन्य मोहियों की चेष्टा को निरखकर स्वयं भी इस वैभव को प्राण मानने लगते हैं। कोई पुरुष दूसरों का धन चुरा ले, हड़प ले, छीन ले, तो इसमें उसने अपना परिणाम बिगाड़ा और दूसरे के परिणामघात का भी कारण हुआ। इस कारण इस चोरी के काम में भी हिंसा का पाप समाया हुआ है।

कुशील में हिंसा का समावेश- कुशील सेवन तो अति निन्द्य काम है, शरीर की रुचि विषय प्रसंग घोर अनर्थ का कारण है। यह मनोबल, वचनबल और कायबल, सभी का विघात करने वाला है ऐसा परस्त्री या परपुरुषविषयक कामनाओं में हिंसा का पाप समाया हुआ है। इसमें प्रथम तो अपना ही परिणाम बिगाड़ा, कुशील का परिणाम इतना दुषित परिणाम है कि कामविकारी पुरुष आत्मस्वरूप का ध्यान कर सकने का पात्र नहीं है। अपने परिणाम बिगाड़ने से, दूसरे के परिणाम बिगाड़ने से, असंख्यात कुन्थु जीवों का विघात होने से हिंसा का पाप कुशील में समाया हुआ है।

परिग्रह में हिंसा का समावेश- परिग्रह में धनसंचय में भी हिंसा का पाप बना है। प्रथम तो इस धन के लोभी पुरुष ने परिग्रह में दृष्टि डाली, अपने स्वरूप से चिगकर बाह्य पदार्थों में अपना चित्त फंसाया, इस कारण उसके बहिर्मुखता होने से इसमें प्राणी के घात का दोष लगा और फिर जो अनेक विह्वलताएँ की जाती हैं वे सब हिंसा पाप ही तो हैं। इस प्रकार 5 प्रकार के पापों में हिंसा का पाप समाया हुआ है। जो साधु संत पांचों प्रकार के पापों से विनिर्मुक्त हैं, उनके सामायिक; समता याने परमसमाधिभाव ठहरता है।

त्रिगुप्तिपालन में सामायिक भाव- जिनके शुभ अशुभ सर्व प्रकार के योगों का परित्याग है, जो तीन गुप्तियों के पालनहारे हैं, ऐसे पुरुषों के ये सामायिक व्रत ठहरता है। यह भी बात जिनेन्द्र परमागम में कही गयी है। ये मन, वचन, काय इस मोही जीव को बहुत प्रिय लगते हैं। अपने मन के अनुकूल स्वार्थसिद्धि हो, दूसरे चाहे किसी विपत्ति में आएँ, पर अपन ने जो स्वार्थ सोचा है, न्याय अन्याय कुछ न गिनकर अपने स्वार्थ की सिद्धि करना, यह है मन का दुरुपयोग। वचन पाया है, कुछ बल पाया है, तो इन वचनों से दूसरे जीवों का विघात करना, अप्रिय, अहित वचन बोलना यह वचनों का दुरुपयोग है और शरीर से कुचेष्टा करना, हिंसा आदिक पाप करना यह काय का दुरुपयोग है। मन, वचन, काय के दुरुपयोग से दूर

होकर और मन, वचन, काय की शुभ क्रियाओं को लगाने का भी विकल्प तोड़कर परमसंयमी बनकर जो अपने आत्मग्रहण में सुरक्षित रहता है, ऐसे संयमी पुरुष के यह सामायिक ठहरती है।

इन्द्रियविजय से सामायिक की प्राप्ति- सामायिक, समता, समाधि- ये सब एकार्थक हैं। ये साधु पुरुष जो परमसमाधि के पात्र होते हैं ये अपनी इन्द्रियों को पूर्ण वश में किए हुए हैं। जो पुरुष इन इन्द्रियों के द्वारा इन्द्रिय के योग्य विषयों का ग्रहण कर रहे हैं उनकी दृष्टि बाह्य में फँसी है और वे आत्मनिधि का परित्याग कर चुके हैं, इस कारण उन जीवों को तृप्ति व शांति का मार्ग नहीं मिल पाता है। निज को निज पर को पर जानने का प्रकाश जिसके परम प्रकट हुआ है और जिसने इस आत्मीय प्रकाश के अनुभव से परम आनन्द प्राप्त किया है ऐसे साधु-संतों के यह परमसमाधि प्रकट होती है। ये मुमुक्षु पुरुष हैं, इन्हें केवल आत्मा के शुद्ध विकास की वान्छा है, ये शरीर वैभव आदि से रहित होकर केवल अपने आपमें शाश्वत लीन हो जाएँ इसकी ही भावना रहती है। ऐसे मुमुक्षु पुरुषों के समतापरिणाम ठहर सकता है। जिसने इस जगत में किसी बाह्य वैभव में अपना उपयोग फँसाया है उनके समता नहीं हो सकती है।

समतावान के सामायिक की स्थायिता- ये परमवीतराग संयमी पुरुष हैं जिनके लिये शत्रु और मित्र दोनों एक समान है, कंचन और काँच जिनके लिए एक पौद्गलिक स्कंध ही नजर आ रहे हैं। निन्दा और स्तवन जिनके लिए यों प्रतीत होते हैं कि ये तो अमुक रूप से परिणामी हुई भाषावर्गाणा की पर्यायें हैं। उन्हें भिन्न और अपने को यथार्थ ज्ञानस्वरूप जान रहे हैं, ऐसे परमवीतरागी, संयमी पुरुषों के सामायिक निरन्तर ठहर सकता है।

आनन्द का धाम- आनन्द तो समतापरिणाम में ही है। जब कभी हम आपमें किसी की ऐसी स्थिति हो कि बड़े विश्राम से घर के चबूतरे पर बैठे हुए हों, किसी ओर का विकल्प नहीं, किसी विषयसाधना की ओर लालसा नहीं, सो उस समय में कोई आकर पूछता है कि कहो कैसे बैठे हो? तो वह कहता है कि हम सुख से बैठे हैं। भला बतलावो कि वह न किसी विषय का सेवन कर रहा है, न किसी प्रोग्राम जलसे में, न किसी यश-प्रशंसा की धुन में है, न कीर्ति-इज्जत की ओर कुछ ध्यान है ऐसा यह पुरुष कौनसा सुख भोग रहा है? सहज इन्द्रियविषय को रोकने से सुखस्वभावी आत्मा में जो स्वयं आनन्द का विकास हुआ है वह इसका सुख है। जो निर्विकल्प होकर इस समतापरिणाम में लीन होता है उसका जो आनन्द है उस आनन्द की उपमा तो तीन लोक में कहीं नहीं है, अध्यात्मयोग से प्रकट हुआ आनन्द क्या कहीं विषयसाधना में मिल सकता है? ऐसे आनन्द में मग्न साधु पुरुष के यह सामायिक व्रत ठहरता है।

समता में शुद्ध शीलप्रकाश- शुद्ध शील समता में है। शास्त्रों में सुना गया है कि परिपूर्णशील भगवान के प्रकट होता है। योगीश्वर से ऊपर, श्रेणियों के भी ऊपर वीतराग बनने के बाद जहाँ सर्वज्ञता प्रकट होती है वहाँ पूर्णशील की पूर्णता बतायी गयी है अर्थात् जैसा आत्मस्वरूप है पूरी तरह से वही स्वरूप रह जाय वह है आत्मा का शील। इस शील की प्राप्ति के लिए व्यवहारशील की आवश्यकता है। अर्थात् ब्रह्मचर्य की

आवश्यकता है। इस कारण लोक में ब्रह्मचर्य को शीलव्रत कहा गया है, पर शील का दर्जा बड़ा ऊँचा है और उस परमार्थदृष्टि से ब्रह्मचर्य का दर्जा बहुत ऊँचा है। ब्रह्म में, आत्मा में परिपूर्ण रीति से लग जाना, सो ब्रह्मचर्य है और आत्मा का जैसा सहजस्वभाव है उससे शोभित हो जाना, सो शील है।

परमार्थ धर्मपालन में परमसमाधि- जो पुरुष संसार के संकटों को उत्पन्न करने वाले पापों का परित्याग करता है और मन, वचन, काय का उपयोग दूर करके अपने आत्मा के शुद्ध ज्ञानस्वभाव का दर्शन करता है, अपने ज्ञानकला का विकास करता है ऐसा भव्य पुरुष स्थिर शुद्ध शान्ति से भरपूर अपने स्वभाव को प्राप्त करता है। समता ही परमचरित्र है। रागद्वेष का जहां कोई पक्ष नहीं रहता उसे समता कहते हैं। व्यवहार में धर्म व धर्मपालन का श्रम तो करें और सत्ता में बसे हुए पक्षों का कुछ भी परित्याग न करें तो बतावो धर्मपालन कहां से हो? मेरा घर है, मेरा वैभव है, मैं अमुक नाम का हूँ, ऐसी प्रतीति तो निरन्तर बस रही है तो कहां से धर्मपालन किया? इन सब प्रतीतियों को त्यागकर एक बार भी निज ज्ञानस्वरूप का अनुभव जगे तो वहां धर्मपालन होता है। परमार्थ धर्मपालन में ही परमसमाधि प्रकट होती है और परमसमाधि से ही आत्मा का कल्याण होता है।

गाथा 126

जो समो सव्वभूदेसु थावरेसु तसेसु वा।
तस्स सामाङ्गं ठाइ इदि केवलिसासणे ॥126॥

सर्वजीवों में समभावी के सामायिक की स्थायिता- जो पुरुष स्थावर अथवा त्रस सभी जीवों में समतापरिणाम रखता है उसके सामायिक ठहरती है, ऐसा भगवज्जिनेन्द्र के शासन में कहा गया है। समता का अर्थ ही यह है कि समान दृष्टि रहना। जब तक इन जीवों में यह अच्छा है, यह बुरा है, यह मेरा है, यह पराया है, यह विषमता रहेगी तब तक सामायिक बन ही नहीं सकता। वह ज्ञानप्रकाश उत्कृष्ट वैभव है जिस ज्ञानप्रकाश में यह समस्त जीवलोक एक समान दिखता है।

अज्ञान में जीव की परिस्थिति- अज्ञान अंधेरे में पड़े हुए लोग जड़ विभूति को पाकर अथवा कुछ मायामय यश, प्रतिष्ठा, बड़ाई को देखकर आर्तध्यान और रौद्रध्यान करते हैं, किन्तु मूल में क्या है? कुछ नहीं। सब मायारूप है। हम जिन बड़ों को पूजते हैं, जिनकी प्रतिमा बनाकर पूजते हैं उनका क्या स्वरूप है? वे केवल रह गये हैं इसलिये पूज्य हैं। जो केवल होते हैं वे उत्कृष्ट होते हैं और जहां कुछ लगा है, घर है, परिवार है, धन है, कुछ लगाव है वह तो पतित अवस्था है। पतित अवस्था में भी अहंकारी होवे तो इसे कितनी मूढ़ता कही जाय? कोई पुरुष लोकदृष्टि में पतित हो, जगह-जगह भीख मांगकर उदर भरता

है। और फिर भी अभिमान बगराये तो ऐसे अहंकारी का कौन आदर करे? ऐसे ही यह अज्ञानी परवस्तुवों का भिखारी जिसने परपदार्थों में अपनी आशा लगायी है ऐसे इन भिखारी संसारी प्राणियों में अहंकार भी छा जाय, लोग बैठकर अपने आपके अहंकार का प्रकाशन करें और मन में अपने को बड़ा समझें, मैं धनी हूँ, मैं नेता हूँ, मैं इन लोगों में चतुर हूँ, समझदार हूँ, किसी भी प्रकार का बड़प्पन का घमंड अन्तर में रखे तो उसे ज्ञानी पुरुष आदर नहीं दे सकते हैं। वे अज्ञानी हैं, मोही हैं, पतित अवस्था में हैं।

तत्त्वज्ञान के बिना दयनीय स्थिति- भैया ! जो कुछ विशेषताएँ मिली हैं, धन, वैभव, ऋद्धि, समृद्धि जो कुछ भी प्राप्त हुए हैं उनमें कल्पनाएँ जगती हैं तो समझना चाहिये कि कितनी दयनीय दशा है, पतित दशा है। पतित दशा का अहंकार करना विवेक नहीं है। जब तक कोई जीव सब जीवों को समान दृष्टि से न निरख सकेगा तब तक उससे धर्मपालन नहीं हो सकता है। भला वह कौनसी दृष्टि है, वह कौनसा लक्ष्य है जिसके सामने राजा, महाराजा, सेठ, गरीब, सूअर, कुत्ता, कीड़ा, मकोड़ा, पेड़ सब जीव एकसमान नजर आते हैं। कुछ अनुमान करो वह कौनसा तत्त्व है जिस तत्त्व को सामने रखने पर ये सब जीव एक समान नजर आते हैं? वह तत्त्व है आत्मा का आत्मा के सत्त्व के कारण आत्मीयस्वरूप। इस आत्मस्वरूप की दृष्टि से सब जीव एक समान हैं। जब तक इतनी उदारदृष्टि नहीं बन पाती, तब तक धर्मकार्य करके, व्यवहारिक कल्पित धर्मप्रवृत्ति करके अपने को धर्मात्मा मानकर संतुष्ट होना मूढता है।

सामान्य तत्त्व के दर्शन में धर्म का प्रकाश- धर्म तब प्रकट होगा जब एक बार उस तत्त्व का दर्शन हो जाय जिस तत्त्व के दर्शन होने पर पेड़ों से लेकर पंचेन्द्रिय तक के सभी संसारी प्राणियों में एक समान बुद्धि हो जाती है। सब एक हैं। अहो ! कैसा यह दृष्टि का प्रताप है जिसके होने पर यह मोक्षमार्ग प्रकट होता है। आजकल धर्म के नाम पर कितनी विषमताओं को आदर दे दिया गया है? ओह ! ये अमुक जाति के लोग हैं, इन्हें दूर हटावो, इस प्रकार छुआछूत का भारी मन में जमाव है। यह जमाव क्या आत्मानुभव करा देगा? हाँ, केवल एक भोजन प्रसंग में छुआछूत का विवेक हो वह तो ठीक है, किन्तु रात-दिन वही वही बात मन में रखे हैं तो जहां इस जीव में विषमता की अनुभूति हो रही हो वहां समतापरिणाम आ सके, यह कैसे सम्भव है? जो परम मध्यस्थभाव में स्थित हैं ऐसे ही मुमुक्षु जीवों के परमसमाधि प्रकट होती है। ये साधु योगीश्वर जो परमसमाधि के यत्न में बर्त रहे हैं उनके सहज वैराग्य प्रकट हुआ है। अन्तर में उनके वस्तुस्वरूप का परिज्ञान होने से उनके समस्त वैभव से उपेक्षा हो गयी है।

विषमता का फल- भैया ! यह वैभव वर्तमान में भी मुझे सुख पहुंचाने वाला नहीं है और आगामीकाल में तो इससे सुख ही क्या होगा, अथवा मरने पर तो यह सब छूट जायेगा। इन समागमों के विकल्प करने से जो पापकर्म का बंध किया है वह बंध साथ जायेगा। यह समागम अशान्ति के लिए हुआ, कुछ आत्महित का कारण नहीं बन सका। जिन कुटुम्बजनों के अर्थ, जिन माने हुए मित्रजनों के अर्थ न्याय अन्याय न गिनकर रात दिन श्रम करके धन संचय किया है, मरने पर न तो धन साथ जायेगा और न ये

कुटुम्ब के लोग साथ जायेंगे। साथ जायेंगे तो जो संक्लेश परिणाम किया और अज्ञान वृद्धि की, उससे जो पापकर्म उपजा वह साथ जायेगा और जन्म भी मानो नरक जैसी निम्न गतियों में होगा।

विषमता के फल में पछतावा- नरक गति में पहुंचने वाला जीव अब घबड़ाता है, तड़पता है। कुछ यदि बोध है तो वह पछतावा करता है कि हाय ! हमने व्यर्थ में दुर्लभ नरजीवन खो दिया था, पापकर्म उपार्जित किया था, आज इस गति के दुःख भोगने के समय वे कोई साथी नहीं हो रहे हैं। साथी होने की बात तो दूर जाने दो, यदि ये कुटुम्ब जन भी साथ ही वहां नरकगति में जन्म ले लें तो भी वे सुख के लिए नहीं होते, उल्टा लड़भिड़कर आक्रमण करके एक दूसरे को परेशान ही करते हैं। इस पर्याय में जाने के बाद यहां के सारे भाव बदल जाते हैं। मां और बेटा दोनों ही यदि नरक में जन्म ले लें तो वहां सबका उल्टा-उल्टा ही बोध बनेगा। मां ने पूर्व जन्म में इस बच्चे की बड़ी खुशामद की थी, आंखों में काजल अंजन लगाया था, नाना सेवाएँ की थी, किन्तु अब नरक गति में जन्म लेने पर इस लड़के का जीव यों सोचता है कि यह मेरी आंखें फोड़ना चाहती थी, आंखों में सींक डालती थी, ऐसा सोचता है और शस्त्र से, बल से हर तरह से आक्रमण कर देता है।

ज्ञानी और अज्ञानी का भोग- भैया ! किसका कौन साथी है? इससे ही अनुमान कर लो कि पूर्व जन्म में जो भी मेरा कुटुम्ब था, क्या आज कुछ मददगार हो रहा है? वे कहां हैं इसका भी कुछ बोध नहीं है। यह संसार सब मायारूप है। यहां रंच भी विश्वास मत करो कि ये पाये हुए समागम सब कुछ हैं। जो ज्ञानी पुरुष होते हैं वे तो जानते हैं कि जो समागम मिले हैं तन, मन, धन, वचन ये सब धर्म के लिए मिले हैं। मेरा सर्वस्व धर्म के लिए न्यौछावर है ऐसी हिम्मत ज्ञानी के होती है। न करे कोई हिम्मत, रहा आये अज्ञानी तो भी उसका सब छूटेगा, मिटेगा। ज्ञानी का भी समागम छूटता है और अज्ञानी का भी समागम छूटता है। उनमें अन्तर इतना है कि अज्ञानी जीव तो इस समागम के मोह में पाप बांधता है और उस पाप के फल को अगले भव में भोगेगा और ज्ञानी जीव उस समागम में उपेक्षा बुद्धि रखता है, इस उदारता के कारण जो पुण्य का संचय किया है उसका फल भोगेगा। अन्तर इतना होगा, पर कोई चीज किसी के साथ न रहेगी, यह सुनिश्चित है।

ज्ञान का फल समता- जिस ज्ञानी की दृष्टि में ये सब जीव एक समान हैं उसके समतापरिणाम प्रकट होता है। यह महामुनीश्वर योगी उदार है, सबका यथार्थ मर्म और अनुभव करने वाला है। जिसके सहज वैराग्य प्रकट हुआ है उसमें विकारों के कारणभूत अब मोह रागद्वेष नहीं रहे। अहो, अर्थ का उद्देश्य तो समतापरिणाम है। जो धर्म, जो मंतव्य बना है उस मंतव्य में भी यही बात समायी हुई है कि मेरे समतापरिणाम प्रकट हो। कोई सिद्धान्तवादी ऐसा मानते हैं कि सारे लोक में आत्मा एक है। वह अपने मंतव्य में समता की सिद्धियाँ करते हैं। किसी से क्यों राग करना, क्योंकि वह दूसरा है ही नहीं। वह भी मैं ही हूं, किस पुरुष से क्या द्वेष करना, क्योंकि वह भी मैं ही हूं। जब सभी जीवों को मैं ही मैं मानना इस

मंतव्य में आया है तो अब रागद्वेष से छूट पाने का यत्न करता है। अरे प्रशंसा सुनने में हर्ष क्यों मानना, क्योंकि प्रशंसा किसी दूसरे ने नहीं की। वह भी मैं ही हूँ, इसी प्रकार किसी ने निन्दा की तो उसका बुरा क्यों मानना, जिसने निन्दा की है वह कोई दूसरा नहीं है, वह भी मैं हूँ। इस प्रकार सर्वथा अद्वैतवाद में भी समतापरिणाम पाने का एक रास्ता बनाया गया है। अब जैन सिद्धान्त की दृष्टि से देखिए; जितने भी जीव हैं वे सब जीव यद्यपि पृथक्-पृथक् द्रव्य हैं, सबका उनका अनुभव अपने आपमें है। किसकी आशा की जाय, किससे रागद्वेष बनाया जाय?

परमज्ञान में पूर्ण निर्विकल्पता- भैया ! निरपेक्षस्वरूप पर जब दृष्टि डालते हैं तो सब एक स्वरूप नजर आता है। यों सब जीव एकस्वरूप हैं, वहां मैं और दूसरे का भी विकल्प नहीं है। यह दृष्टि द्वैत और अद्वैत से परे है। कैसा वस्तुस्वरूप का विवेचन है जैन सिद्धान्त में कि सब मंतव्यों का उद्देश्य इस स्याद्वाद में मिल जाता है। यह दूसरा है, यह दूसरा नहीं है। मैं हूँ, यह सब भी विकल्प नहीं हैं, किन्तु एक शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप पर ही दृष्टि है, स्वरूप दृष्टि में न एकपना है किन्तु अनुभव है। अनुभव निर्विकल्प होता है। अनेक मानना यह भी विकल्प है और एक मानना यह भी विकल्प है। यह परमसमाधि तो निर्विकल्प दशा से प्रकट होती है। इस परमयोगीश्वर के कहीं रागद्वेष मोह नहीं है, विकार के कारणभूत सर्वप्रकार के रागद्वेष मोह दूर हो गए हैं। यह परमसमतारस का स्वामी है, इसमें भेद कल्पना रंच रही नहीं है। यह मैं हूँ, ये दूसरे हैं, यह भी विकल्प वहां नहीं है।

उत्कृष्ट अभेदभाव में परमसमाधि- मैं हूँ, ऐसा मानना भी भेद है। यह दूसरा है, ऐसा मानना भी भेद है। मैं मानने में यह अन्डरस्टूड है कि कोई दूसरा भी है। इतना भेदभाव भी जहां पर नहीं है उस परिणाम में परमसमाधि प्रकट होती है। यों योगीश्वर त्रस जीवों और स्थावर जीवों में समान बुद्धि रखते हैं उन योगियों के यह सामायिक नामक व्रत होता है। ऐसा वीतराग सर्वज्ञदेव के मार्ग में प्रसिद्ध हुआ है। जिन योगीश्वरों का चित्त त्रसहिंसा और स्थावरहिंसा से दूर रहता है, जो योगीश्वर आत्मा के सहज स्वरूप में पहुंच चुके हैं, ऐसे परमसमाधि के पुन्ज योगीश्वर मेरे हृदय में विराजमान् होओ, वे अभिनन्दनीय हैं। मैं उनके गुणों की मन, वचन, काय से सराहना करता हूँ।

आस्तिक का वात्सल्य- भैया ! जिसकी धर्म में प्रीति है उसे धर्मात्मा में बहुमान हुए बिना रह नहीं सकता और जिसे धर्मात्माओं में प्रीति नहीं है उसे धर्म में भी प्रीति नहीं है। आज सभी प्रकार के मनुष्य चाहे कितने ही धनी हों, पर सभी परेशानी अनुभव कर रहे हैं। परेशानी रंच नहीं है। परेशानी तो केवल कुबुद्धि की है, मोह की है। किसी दिन यह सारा का सारा अंदुगा छोड़कर जाना होगा। जब यह निश्चित है कि मैं सबसे भिन्न हूँ तो इन समागमों में क्यों ममता की जा रही है? हाय? यह कैसी कुबुद्धि बढ़ रही है कि मैं धन खूब बढ़ाऊँ। जो मोह ममता करेगा, उद्दंडता करेगा, उसको परेशान होना ही पड़ेगा। सब दुःखी हो रहे हैं तृष्णावशा। यही तो नास्तिकता का स्वरूप है। जो पदार्थ जैसा है वह स्वरूप ध्यान में न

आए, आराधना के योग्य गुरु, देव, शास्त्र पर जिन्हें विश्वास भी नहीं है वे तो कुबुद्धि में अग्रणी रहा करते हैं। धर्म और धर्मात्माओं का तो निकट सम्बन्ध है। जिसे धर्म में प्रीति नहीं है उसे धर्मात्मा में भी प्रीति नहीं है। खूब अनुभव करके विचार लो।

अज्ञानी और ज्ञानी की रुचि की दशा- जिन्हें व्यसनों में प्रीति है वे व्यसनी पुरुषों का आदर करते हैं। व्यसनी पुरुष दूसरे व्यसनी पुरुष को देखकर प्रसन्न हो जाते हैं, धर्मात्मा पुरुष को देखकर प्रसन्न नहीं हो सकते। जिसको जो परिणाम सुहावना लगता है, उसको उस परिणामधारी से अधिक प्रेम रहता है। यहां यह मुमुक्षु ज्ञानी पुरुष मुक्ति की अभिलाषा रख रहा है और जिसे मुक्त कराना है उस सहज स्वरूप की दृष्टि पकड़ रहा है। ऐसे सहज ज्ञान वैराग्य से सम्पन्न यह योगीश्वर सब जीवों को धर्ममय देख रहा है। अज्ञानी जीवों की जहां यह प्रकृति है कि वे गुणियों के ऐब ही पकड़ेंगे। वहां ज्ञानी पुरुषों की ऐसी प्रकृति है कि निन्द्य से भी निन्द्य पर्याय वाले जीवों में, कीड़े, मकौड़े, सूकर, गधा आदि निम्न पदार्थों में रहने वाले जीवों में भी उनकी प्रभुता निहारेगा।

अज्ञानी की दोषग्रहणप्रकृति- जिसकी जैसी प्रकृति है उसे वैसा ही सुहाता है। जो अवगुणी हैं उन्हें अवगुण ही सुहाते हैं और जो गुणी हैं उन्हें गुण ही सुहाते हैं। जिसमें दोषों का जमाव है वह दूसरे गुणी पुरुषों में भी दोष ही निरखेगा। अधर्मी धर्मी पुरुष में भी धर्मकार्यों को निरखकर ढोंग जैसा निरखता है। वह अधर्मी जानता है कि ये सभी पापी हैं, धर्म का तो ढोंग है। वह अन्तरंग से यह सम्भावना नहीं कर सकता है कि धर्मात्मा भी कुछ हुआ करते हैं अथवा धर्म भी कुछ तत्त्व है और धर्म के प्रभाव से निर्वाण प्राप्त होता है, ऐसा प्रत्यय उसकी दृष्टि में नहीं समा पाता।

ज्ञानी की गुणग्रहणप्रकृति- जब तक जीव त्रस, स्थावर सभी प्रकार के जीवों में समतापरिणाम नहीं कर सकता है तब तक उसे धर्मपालन का पात्र नहीं बताया गया है। तत्त्वज्ञानी सर्वजीवों में अनादि अनन्त अहेतुक असाधारण ज्ञानस्वभाव का ग्रहण करता है। निरपेक्षस्वरूप की दृष्टि से सब जीवों को निहारने की ज्ञानी की प्रकृति है। इस सामान्य भाव का जो कि अचेतन पदार्थों से विविक्त होने के कारण असाधारण है, दर्शन होना सर्वप्रथम आपतित है, पश्चात् पर्यायदृष्टि करके विषमपरिणतियों का ज्ञान करना उस प्रकार का चित्त बनाने द्वारा साध्य है। जहां चैतन्य सामान्य का दर्शन होता है वहां ही परमसमाधि प्रकट होती है।

अद्वैत और द्वैत से विनिर्मुक्ति तत्त्व की दृष्टि- सर्वविकल्पों को त्यागकर, परमविश्राम से रहकर जो एक सहज ज्ञानप्रकाश अनुभव में आता है वह तो है अद्वैततत्त्व और इस ज्ञानप्रकाश के अनुभव को छोड़कर जितने भी अनात्मतत्त्व में दृष्टि पहुंचती है अथवा भेदरूप जितने भी चिन्तन चलते हैं वे सब हैं द्वैततत्त्व। अद्वैत का अर्थ दो नहीं, अथवा उत्कृष्ट अथवा एकस्वरूप और द्वैत का अर्थ है दो या अनेक, अथवा अनुत्कृष्ट। ऐसे दो प्रकार के मार्ग हैं- एक अद्वैतमार्ग और एक द्वैतमार्ग। कितने ही पुरुष अद्वैतमार्ग की

इच्छा करते हैं और कितने ही लोग द्वैतमार्ग की इच्छा करते हैं। हम तो अद्वैत व द्वैत के विकल्पों से निवृत्त होकर स्व में आना चाहते हैं।

अद्वैत और द्वैत के एकांत में स्व का लोप- अद्वैतमार्ग की भी केवल इच्छा करने वाले लोगों का, सर्वथा अद्वैत को जब मान लिया गया हो, तब यह रूप बन जाता है कि इस लोक में सर्वव्यापक एक अद्वैत सत् है, ज्ञान है, शब्द है, ब्रह्म है। अनेक पद्धतियों के रूप में उपस्थित हुआ अद्वैत एकांत बन जाता है और द्वैतमार्ग की इच्छा करने के लिए जब बहुत भेदभाव में चले जाते हैं तो एक ही पदार्थ के अनेक अंश कर करके पदार्थ मान डालते हैं। जैसे एक आत्मपदार्थ है, इसमें ज्ञान दर्शन आदिक अनेक गुण हैं और इस आत्मा में जानने, देखने, रमने आदिक क्रियाएँ हैं। इस आत्मा को जब सामान्य दृष्टि से तकते हैं तो यह एक चिदानन्दस्वरूप है, एकस्वरूप है, वह सामान्य तत्त्व है। जब हम इस आत्मा को न्यारा-न्यारा भेद बनाकर समझना चाहते हैं तो इसमें यह विशेष नजर आता है। इसमें ये परिणमन हैं, ये गुण हैं आदिक बातें पहिले आत्मा में नजर आती हैं। कोई उन सबको एक आत्मा न मानकर एक-एक गुण को, एक-एक परिणमन को सबको न्यारा-न्यारा पदार्थ मानने लगे तो यह भेदवाद की स्वच्छन्दता है। यों अद्वैत के एकांत में भी स्व का लोप हो जाता है और द्वैत के एकांत में भी। अतः अब हम एकांतों को छोड़कर एक इस आत्मानुभव के मार्ग में आते हैं।

भेदैकान्त की कल्पना में शान्ति का अस्थान- कोई भी पदार्थ हो वह तो है ही, उसके अलावा और भी चीज है या नहीं? उत्तर तो यह आता है कि अनेक चीजें हैं। हम एक जीव हैं, ये नाना पुद्गल हैं, अनेक हैं पदार्थ, पर कोई इस अनेकता को मना करके सब कुछ एक ब्रह्म है, सब कुछ एक ईश्वर है, सब कुछ एक ज्ञान है, शब्द है, किसी भी रूप में नानापन का खण्डन कर डाले तो यहां इस पद्धति से वस्तु की स्वतंत्रता विज्ञात नहीं हो सकती है और कोई नाना को ही देखता रहे, यह भी है, यह भी है और इतना नानापन कर डाले कि एक पदार्थ में भी जितनी शक्तियां हैं उन सब शक्तियों को एक-एक पदार्थ मान बैठे तो उसने अपना उपयोग भटकाया है, शान्ति का काम तो नहीं किया है। शान्ति का आधार जो निज ज्ञानतत्त्व है उसकी ओर तो वह आ न पायेगा, क्योंकि इसका उपयोग बाहर में भटक रहा है।

स्याद्वाद व प्रमाण का दर्शन- भैया ! न केवल द्वैत से हम तत्त्वज्ञान कर सकते हैं। अद्वैत मायने हैं अभेदवाद और द्वैत मायने हैं भेदवाद। जैनसिद्धान्त इन दोनों को स्वीकार करता है, और दोनों को मानकर यह शिक्षा देता है कि तुम ऐसे अखण्ड आत्मा का आश्रय करो कि अभेद और भेद दोनों का विकल्प समाप्त हो जाय। लोक में गणेश की मूर्ति प्रसिद्ध है। शरीर तो मनुष्य का है, मस्तक हाथी का है, और उसका वाहन चूहा है, ऐसी मूर्ति बनाते हैं। एक कल्पना तो करो क्या कोई महापुरुष चूहे की सवारी करता रहा होगा अथवा अपना सर हाथी का बना लिया होगा। वह मूर्ति एक प्रतीक है किसी सिद्धान्त को बताने का। वह स्याद्वाद और प्रमाणसिद्धान्त को बताने का एक अलंकार है। जैन सिद्धान्त में दो नय बताये हैं-

निश्चयनय और व्यवहारनय। निश्चय का नाम है अभेदनय, जिसमें और कोई भेद न उठाया जाय और व्यवहारनय का नाम है भेदनय, जिसके जितने भी बन सकें उतने भेद करने दीजिए। गणेश का वह चूहा भेदभाव का दृष्टान्त है। जैसे चूहा कागज कपड़े को कुतर-कुतर कर खण्ड-खण्ड कर देता है जितना बढ़िया बारीकी से चूहा अपने मुख से फाड़ सकता है, हल्के से हल्के कागज का टुकड़ा बना देता है उतना बढ़िया टुकड़ा मनुष्य नहीं कर सकता है। तो वह चूहा व्यवहारनय का प्रतीक है और गले पर हाथी का सिर भी फिट ऐसा किया है कि एकमेक बन गए हैं, अन्तर नहीं नजर आता। ऐसा अभेद कर देना किसी तत्त्व को, जिसका कि फिर भेद या अन्तर न मालूम हो सके, यह है निश्चयनय का प्रतीक। यह समस्त मूर्ति यह बतलाती है कि निश्चय और व्यवहारनयात्मक तत्त्वज्ञान होता है, उभयनयात्मक होता है। वहाँ पर व्यवहारनय से समस्त तत्त्वों का निर्णय करके लक्ष्य बनाना चाहिए निश्चय का।

निर्विकल्प अनुभव की भावना- योगीश्वर यों चिन्तन करते हैं कि हम अद्वैत व द्वैत मार्ग से विमुक्त होकर एक ज्ञानानुभवरूप वर्तना चाहते हैं। परमसमाधि के प्रकरण में उपयोग को वहाँ ले जाया जा रहा है जिस तत्त्व में हम अपना उपयोग ले जायें तो रागद्वेष मोह विकल्प तरंग, ये कोई भेद न उठे, ऐसी तत्त्वज्ञान में ही हमारी समाधि की पूर्णता होती है। एकस्वरूप सब जीवों में समान तत्त्व को जो निरखता है उसके परमसमाधि प्रकट होती है। कोई लोग अद्वैत के मार्ग से अपना व्यवहार बनाए रहते हैं, अपना मत, अपना विचार और अपने धर्म की प्रभावना एक अद्वैतमार्ग का विषय करके बनाते हैं। तो कोई लोग क्रियाकांड करके पूजन विधान आदि अनेक प्रकार की विधियों से आचमन करना अथवा जाप करना आदिक बड़े-बड़े भेदवादों सहित धर्म का पालन किया करते हैं। यह तत्त्वज्ञानी पुरुष जिसने परमात्मतत्त्व का मर्म पाया है और उस तत्त्व में लीन होने की उत्सुकता बनी हुई है उसका यह चिन्तन है कि मैं अद्वैत और द्वैत सभी प्रकार के विकल्पों को तोड़कर अपने आपके अन्तःप्रकाशमान् इस परमात्मतत्त्व की उपासना करता हूँ।

स्वरूपभावना का कर्तव्य- जो पुरुष सदा के लिए संकटों से छूटना चाहते हैं उनका यह कर्तव्य है कि वे अपने से भिन्न पदार्थों में ममत्व न करके उनमें उपयोग न फँसाकर उनके ज्ञाताद्रष्टा रहकर अन्तरंग में सही उत्सुकता बनायें। यह मैं आत्मा जो न जन्म लेता है, न मरण करता है, किन्तु स्वतः स्वभाव से ज्ञानप्रकाशरूप और आनन्दमय बना हुआ है, ऐसे आत्मा को मैं अपने आत्मा में स्थित होकर इस ही को बारम्बार भाता हूँ। मैं शुद्ध हूँ, ज्ञानमय हूँ, अविनाशी हूँ, द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म- इन तीन अन्जनों से रहित, निरन्जन हूँ, समस्त परपदार्थों से न्यारा आनन्द मूर्ति हूँ, इस तरह से अपने को जाने, देखे अनुभव करे तो वहाँ ज्ञानानुभव का प्रकाश होता है। यही है अलौकिक दुनिया, यही है अलौकिक वर्ष का प्रारम्भ।

अनादि से विडम्बना- भैया ! अनादिकाल से इस जीव ने विषयवासना, कषायसंस्कार के वश होकर आशा लगा-लगाकर जगह-जगह अपनी भटकना की है। भटका यह खूब, आज सुयोगवश मनुष्य जैसा

उत्कृष्ट जन्म पाया, श्रवण और जानन की शक्ति पायी, अब भी यदि इन बाह्य विभूतियों में निरन्तर अपना उपयोग बसाये रहे तो फिर बतावो कल्याण के करने लायक भव कौनसा होगा? क्या ये कीड़े पतंगे कल्याण कर सकते हैं? कल्याण कर सकने लायक भव तो एक मनुष्यभव ही है। यहां ही पुरानी ढफली गाते रहें, विषयकषायों की धुन बनाए रहें तो कैसे इस आनन्द घर में प्रवेश हो सकेगा?

योग्य अवसर में भूल का फल- जैसे कोई अंधा भिखारी किसी नगरी में भीख मांगने के लिए जाना चाहता था। नगर में बहुत धनी और उदार पुरुष थे। वह नगर चारों ओर कोट से घिरा हुआ था। उस कोट में मान लो एक ही दरवाजा था। लोगों ने बताया कि इस कोट पर हाथ रखकर चले जाना, जहाँ दरवाजा मिले, वहीं से नगर में प्रवेश कर जाना। वह पुरुष खुजैला भी था, उसके सिर में खाज थी। वह हाथ टटोल-टटोलकर चला जा रहा था। जहां दरवाजा आया वहां ही अपना हाथ उठाकर अपना सर खुजलाने लगा और पैरों से चलना बराबर जारी रखा। इस तरह से उसने कई चक्कर लगा लिए, उसका ऐसा ही भवितव्य था कि जहाँ दरवाजा आता तहाँ अपनी खाज खुजाने लगता और पैरों से चलना जारी रखता। ऐसे ही यह जीव समस्त कुयोनियों में भ्रमण करके जब मनुष्य भव में आया तो यहाँ भी इसने अपने आत्मा की सुध न की। विषयकषायों की खाज खुजाने में ही यह आसक्त बना रहा और मनुष्यभव खो दिया, इस तरह से कुयोनियों में ही भटकना जारी रहा।

कर्तव्य का स्मरण- भैया ! यदि ये अमूल्य क्षण भोगों में गुजार दिये जायें तो फिर बतावो उसका कौन साथी होगा? जिस मकान, दुकान, परिवार को यह अपना सर्वस्व मानता है उनका एक अंश भी एक अणु मात्र भी साथी न होगा। जब तक समागम है तब तक भी ये साथी नहीं, आगे तो साथी कुछ होगा ही क्या? इससे कुछ आत्मा की सुध लेना चाहिए। सबसे महान् पुरुषार्थ है किसी भी प्रकार समतापरिणाम बन जाय, उत्कृष्ट समता बन जाय जहाँ किसी भी प्रकार का परपदार्थ का रंच भी विकल्प न हो, ऐसा उत्कृष्ट परिणाम हो जाय, ये नाना विकल्प संसार क्लेश को ही उत्पन्न करते हैं।

सहजतत्त्व के अनुभव में नयों की अगोचरता- जो मेरा अनुपम आनन्दस्वरूप है ऐसा यह आत्मा समस्त नय-समूह से परे है। यह शुद्ध ज्ञानप्रकाश किसी भी नय के द्वारा जानने में नहीं आता अर्थात् हम अनुदार दृष्टि बनाएँ, वस्तु के किसी एक अंश को निरखें तो वहाँ इस आत्मा का अनुभव नहीं होता है। हाँ इतनी बात अवश्य है कि जिन जीवों को आत्मानुभव हुआ करता है उन्हें आत्मानुभव से पूर्व उस निश्चयनय का आलम्बन होता है और जो जीव निश्चयनय की दृष्टि को छोड़कर केवल मात्र व्यवहार का ही आलम्बन करता है उसको धर्म का मार्ग नहीं मिल पाता। इन विकल्पों से मेरा क्या प्रयोजन बनेगा? यह आत्मा तो द्वैत अद्वैत सर्व प्रकार के विकल्पों से दूर है। मैं निज एक उस भाव का वंदन करता हूँ, जिसके प्रसाद से अल्पकाल में ही मेरे संसार के संकट दूर होंगे। संसार के संकट धन वैभव से नहीं दूर

होते हैं, ये धन वैभव तो विकल्प बढ़ाने के ही कारण हैं। इन विकल्पों को तोड़कर निर्विकल्प अखण्ड, अद्वैत चैतन्यमात्र आत्मतत्त्व में उपयोग जमे तो संसार के संकट दूर होंगे।

ज्ञानी की वैभव में उपेक्षा- ज्ञानीजन इस वैभव को यों छोड़कर चले जाते हैं जैसे नाक से छिनके हुए मल को छोड़कर लोग चले जाते हैं। फिर उस नाक की ओर नजर भी कोई डालता है क्या? उससे घृणा करते हैं, ऐसे ही ज्ञानी संत जिन्हें आत्मीय सत्य आनन्द का अनुभव हुआ है वे इन अचेतन व परचेतन समागम का परित्याग करके आत्मीय आनन्द के अनुभव के लिए उत्सुक रहा करते हैं। संसार में अनेक प्रकार के परिणाम हैं, कुयोनियां हैं, जन्मस्थान हैं, शरीरों के प्रकार हैं, उन सबमें जन्म लेकर यह जीव जितना भी सुखी दुःखी हो रहा है पुण्य व पाप के उदय के कारण हो रहा है। जिसने सुकृत किया उसके पुण्य आया और जिसने दुष्कृत किया उसके पाप बना। इस आत्मा के स्वरूप में न तो शुभभाव हैं और न अशुभभाव हैं, क्योंकि आत्मा सदा एकरूप है। यह तो जिस प्रकार के सहजस्वभाव का है वही स्वभाव वाला आनन्दधन अनादि से अनन्त काल तक रहता है, ऐसा स्वभाव जो संसार के संकटों से मुक्त है, जिसमें शुभ-अशुभ रागद्वेष विषय कषाय किसी भी प्रकार के विभाव नहीं हैं, उस नित्य शुद्ध आत्मा का मैं स्तवन करता हूँ।

सत्य शरण ग्रहण- हे मुमुक्षु जनों ! संकटों से मुक्ति चाहो तो अपने आपके इस परमात्मप्रभु की शरण लें। बाह्य में शरण क्या हो? कुछ साथ में रहने का नहीं है। जैसा हम चाहते हैं वैसा परिणमन पर में होता नहीं है। इस कारण अन्य विकल्पों का परित्याग करके ऐसा साहस बनाएँ कि हम अपने आपके उस शुद्ध ज्ञानस्वरूप को निहार लें, जिससे समस्त आकुलता दूर हो जायेगी। जिसके प्रसाद से फिर यह ज्ञानी जितने जीवों को निरखें, त्रस हों अथवा स्थावर हों, सब जीवों को देखकर सर्वप्रथम तो उस चैतन्यस्वरूप की सुध लें।

आत्मा का चैतन्य चमत्कार- यह आत्मा नित्य शुद्ध है, चैतन्यचमत्कारमात्र है। कोई प्रश्न करे कि इस आत्मा में क्या भरा है? जैसे कोई प्रश्न करे कि इस देह में क्या भरा है? तो मांस, खून, हड्डी आदि ये सब भरे हैं। इस बोरे में क्या भरा है? गेहूं, चना आदि जो कुछ भी भरा है यह कहा जायेगा। जब यह प्रश्न हो कि इस आत्मा में क्या भरा है? तो उत्तर होगा कि आत्मा चैतन्यचमत्कार से भरपूर भरा पड़ा हुआ है। एक जाननदेखनहार, विलक्षण, अलौकिक सत्यप्रकाश इसमें पड़ा है। जिस शुद्धप्रकाश के द्वारा यह आत्मा प्रबल अंधकार को, रागांधकार को संकटों से दूर कर देता है।

आत्मतत्त्व की आस्था- यह आत्मतत्त्व जिसकी उपासना के लिए बड़े-बड़े चक्रवर्ती जैसे महापुरुष भी 6 खण्ड की विभूति को छोड़कर निर्ग्रन्थ दशा में रहकर अपना जीवन सफल मानते थे वह आत्मतत्त्व सर्वत्र जयवंत हो। हम आप सबमें यह आत्मतत्त्व प्रकाशमान् हो, यह आत्मतत्त्व चैतन्यस्वरूप बड़े-बड़े मुनीश्वरों के हृदय-कमल में नित्य विराजमान् रहता है। यह तत्त्व अज्ञानियों को तो समझ में न आयेगा, ज्ञानियों को

यह स्पष्ट ज्ञान में आता है। ऐसा यह आत्मतत्त्व हम आप सब लोगों की दृष्टि में सदा के लिए विराजमान रहो, इस सामान्यरूप के दर्शन से परमसमाधि प्रकट होती है।

शुद्ध उपयोग का जयवाद- वह उपयोग धन्य है जिसमें पक्ष की रंच भी कलुषता नहीं रहती है। ऐसा स्वच्छ उपयोग ही सब आंधियों के शान्त होने के कारण समाधि है। यह वीतराग विज्ञान ही स्वभाव में युक्त होने के कारण योग है। ज्ञातादृष्टा रहने की सहज स्थिति ही समवर्तना के कारण परमसामायिक है। यह शुद्ध ज्ञानप्रकाश परमज्योतिर्मय होने के कारण तेजःपुञ्ज है। यह सहजस्वभाव का अवलम्बन ही परमशरण है। इसके प्रसाद से ही शाश्वत आनन्द प्राप्त होता है।

गाथा 127

जस्स सण्णिहिदो अप्पा संजमे नियमे तवे।

तस्स सामाङ्गं ठाड़ इदि केवलिसासणे ॥127॥

योग की परमसामायिक व्रत- जिसका आत्मा संयम में, नियम में और तप में सन्निहित है उसके सामायिक स्थायी है, ऐसा केवली भगवान के शासन में कहा है। जो पुरुष बाह्य मायाजालों के प्रपंचों से पराङ्मुख हैं, जिन्होंने समस्त इन्द्रियों के व्यापार को जीत लिया है और जो इसी कारण भावीकाल में मुक्त होगा ऐसे योगी के संयम में अपना आत्मा जो सन्निहित होता है यही परमसामायिक है।

सामायिक व्रत का पात्र- आत्मा स्वतंत्र आनन्दस्वभाव वाला है, यह अपने आनन्दस्वभाव को न मानकर और अपने इस शुद्ध स्वरूप में न प्रवेश करके जो बाहर-बाहर डोलता है इससे इसे क्लेश है। बहुत बड़े साहस की बात है सदा के लिए संसार के संकट मिटा लेना, अपने को केवल शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप में रत कर लेना, यह बड़े ऊँचे पुरुषार्थ और भवितव्य की बात है। यह जन्म-मरण न करना पड़े, ये संयोग-वियोग, सुख-दुःख, ये समस्त परिवर्तन खत्म हो जाएँ और निरन्तर शुद्ध ज्ञानरूप वर्ता करें, अपने आनन्दरस में लीन रहा करें ऐसी स्थिति पा लेने का मार्ग जो पा ले उससे अधिक अमीर और किसे कहा जाय? जो अंतस्तत्त्व की रुचि से आत्मस्वरूप में सन्निहित हो जाता है ऐसे समृद्धिशाली योगीश्वर के ही समता परिणाम ठहरता है।

अज्ञान में आनन्द की दिशा का भी अभाव- भैया ! आनन्द जब भी मिलेगा, समता में ही मिलेगा। पक्ष में, रागद्वेष में आनन्द नहीं मिलता। कितना घोर यह अज्ञान है कि भीतर श्रद्धा में यह बात मान ले कोई कि ये दो तीन प्राणी मेरे हैं, बाकी सब गैर हैं, यह बहुत बड़ी विपदा की बात है। वे गृहस्थ धन्य हैं जो घर में रहते हुए भी अपने परमब्रह्मस्वरूप की ओर रुचि लगाये रहते हैं। यों कुत्ता, गधा आदि अनेक पशु पक्षी भी अपने उदर की पूर्ति कर लेते हैं और मौज से खेला करते हैं, लीला करते हैं। मनुष्यभवं में

भी इतनी ही बात यदि रही, खाया, खोया, मौज माना और रौद्रध्यान की लीला की, बाह्य परिग्रहों में आसक्ति रखकर अपना सब कुछ समर्पण इस अज्ञान जड़ विभूति को कर दिया, ऐसा यदि यहाँ व्यवहार चला आया तो वह तत्त्व तो न मिल सकेगा।

पशुओं में मानव की श्रेष्ठता का कारण धर्मपालन- पंचेन्द्रिय के विषयों में ही रमण करके पशुओं से उत्कृष्टता मनुष्य की नहीं कही जा सकती है। मनुष्य में श्रेष्ठता है तो एक धर्म की है। एक धर्म को निकाल दो तो यह भी मनुष्य बिना पूँछ, सींग का पशु है। ये पूँछ सींग तो मनुष्य से ज्यादा हैं। पशुओं के पास पशुओं के ये दो हथियार हैं, मनुष्य तो निहत्था है, मनुष्य से पशु बड़े ही हैं, घट नहीं हैं। लेकिन एक धर्म की बात हो तो मनुष्य जैसा जीवन लोक में कहीं नहीं है। वह धर्म क्या है? यही अपने शुद्ध स्वरूप का परिचय पा लेना, जिस परिचय से यह आत्मा आनन्द विभोर हो जाता है। और भी स्थल दृष्टि से देखो, जब कुछ साथ रहना ही नहीं है, कभी जीवन के अंत में तो वियोग होना है सबका, फिर अपनी इस जिन्दगी में पर से माथा रगड़कर कितना समय पूरा किया जा सकता है, अंत में नियम से विछोह होगा ही।

परमसमाधि की योग्यता- भैया ! जो बात आगे होगी उसको अभी से क्यों नहीं मानते? यदि यह ध्यान में रहे कि जो कुछ हमें मिला है इसका वियोग नियम से होगा तो वर्तमान में भी शान्ति मिलेगी, तृष्णा न बढ़ेगी। जो कुछ भी समागम है, यह सब अध्रुव हैं, विनाशीक हैं, इतनी बात का जिसे पता रहे उसे ज्ञानी कहते हैं, इसमें अपूर्व आनन्द भरा हुआ है। जो योगी सत्य ज्ञान के कारण बाह्य मायाजालों से पराङ्मुख हैं, किसी भी इन्द्रजाल से अपनी आसक्ति नहीं लगाये हैं, उन्हीं पुरुषों के समता अर्थात् परमसमाधि प्रकट होती है। यह सारा लोक केवल इन्द्रिय के व्यापार से ही निरत है। पशु, पक्षी मनुष्य जहाँ जावो तहाँ देखो, इन्द्रिय के विषयों में रहा करते हैं, मन की उड़ान में ही अपना समय गँवा रहे हैं। ज्ञानस्वरूप के प्रसंग में उपयोग रमाये, ऐसा जिसको आप पा रहे हैं। जिन बिरले संतों के यह अनुभूति जगती है उसही को लोग पूज्य कहते हैं, आदर्श मानते हैं। लोक में जितने भी कुदेव हैं, वे सब देव के नाम से पूज्य हैं। जिस काल में इस भक्त को इन कुदेवों की कुदेवता ध्यान में आ जाय तो फिर वह क्या पूजेगा? जितने भी कुगुरुवों की मान्यता है वह सब गुरुवों के नाम पर है। यदि उनकी इस मान्यता की अयथार्थता का पता पड जाय तो उनका कोई न मानेगा।

सच्चाई की दृढ़ता में सफलता की अवश्यंभाविता- भैया ! यहाँ भी देखो, व्यापार सच्चाई के नाम पर चलता है। चाहे कितना ही झूठ व्यवहार भी करे, पर उसमें सच्चाई का नाम न रहे तो किसी का व्यापार नहीं चल सकता है। सच्चाई के नाम पर ही व्यापार चलता है। यदि पूर्णरूप से सच्चाई का व्यवहार रक्खे तो क्या व्यापार न चले? चलेगा, पर उस सच्चाई की ओर दृष्टि नहीं है ना, और यदि कोई हिम्मत करके एक बार भी सच्चाई का काम करे कि हमें सच्चाई नहीं छोड़ना है, चाहे हानि हो जाय तो उसका व्यापार

अच्छा चलता है, पर लोग तो यह सोचते हैं कि यदि हम सच्चाई से काम करेंगे तो फिर मुनाफा क्या मिलेगा? मान लो लाख रूपया कमाने पर टैक्स में 80 हजार चले गए तो चले जाने दो- वह तो सच्चाई की चीज है, जो 10-20 हजार रह गए वे गुजारे के लिए काफी हैं, पर वे तो 80 हजार जा रहे हैं उनमें तृष्णा का भाव उत्पन्न होता है। उससे सच्चाई में ढिलाई होती है। यदि सच्चाई के साथ जो कुछ भी आय हो वही गुजारे के लिए काफी है, ऐसा संतोष हो तो कहीं क्लेश नहीं है।

सात्त्विक वृत्ति व परोपकार- सात्त्विक रहन-सहन गृहस्थों के लिए बड़े श्रृंगार की चीज है। अपने शरीर के मौज के लिए खर्चा बढ़ाना, अट्टसट्ट चीजें खाना, यह तो बीमारी पैदा करने के लिए है। अट्टसट्ट खाया, बीमारी पैदा हुई, लो और खर्चा बढ़ गया। सात्त्विक रहन-सहन में सब अपने संतोष की बात है। जो कुछ द्रव्य आता है वह सब पर के उपकार के लिए आ रहा है, मेरे गुजारे के लिए तो इतना नियत है, ऐसी वृत्ति रहे। ऐसी वृत्ति में यदि लाखों का धन भी आ जाय तो भी अपनी उस सही वृत्ति में अन्तर न डाले, तो देखो उसे कितना संतोष रहता है? कितना ही समागम वृद्धिगत हो जाय और संतोष न मिल सके तो वह समागम किस काम का है? जैसे कोई कहते हैं ना, यदि कोई बड़ा धनी बहुत अधिक बीमार रहे, खटिया से भी न उठ सके, रोटी भी न खा सके, तो लोग कहते हैं कि यह धन किस काम का है, सुख से रोटी भी नहीं खा सकता, उसका धन किस काम का है, ऐसे ही यहाँ जानो कि जिसे संतोष नहीं मिल सका, धर्म की ओर उपयोग लगाने की जिसे फुरसत नहीं है उसका बढ़ा हुआ वह धन किस काम का है?

परमसंयम में परमसमाधि- तत्त्वज्ञान का उपयोग ही परमवैभव है। जिस योगी के यह तत्त्वज्ञान प्रकट हुआ है उसका आत्मा संयम में सन्निहित रहता है और इस संयम के प्रसाद से निरन्तर आनन्द मग्न रहता है। संयम बाह्य में तो यह है कि हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह- इन पांचों प्रकार के पापों का त्याग रहे, और अन्तरंग का संयम यह है कि मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति रहे, इन्द्रियों का व्यापार रुक जाय। उपयोग उपयोग के स्रोतभूत ज्ञानस्वभाव में केन्द्रित हो जाय, उसका नाम है अंतरंगसंयम। जिसका आत्मा इस संयम में सन्निहित है, उसके परमसमाधि प्रकट होती है। एक शुद्ध ज्ञान प्रकट होता है जिसमें सत्य आनन्द अनुभवा जाता है। इस प्रकार आत्मा का नियम है जो आत्मा का नियतस्वभाव है उस नियतस्वभाव में ही आत्मा को बनाए रहना। कोई कहे कि आप नियम से चलो, तो उसका परमार्थ अर्थ यह है कि तुम अपने निरपेक्ष नियत ज्ञानस्वभाव में स्थिर रहने का यत्न करते हुए रहो, यह है परमार्थ नियम से चलना। जो इस परमब्रह्म चैतन्यस्वभाव आत्मा का निजस्वरूप है उसही में अपने उपयोग का आचरण करे, ऐसे नियम में जो ठहरता है उसके समता स्पष्ट प्रकट है।

परमनियम से परमसमाधि- निश्चयनियम की साधना के अर्थ बाह्य में परिमित समय के लिए आचरण का नियम किया जाता है। जैसे आज जब खा लिया तो 48 घंटे न खायेंगे, यह नियम हो गया। उस नियम का प्रयोजन यह है कि भोजन करने का भी विकल्प न करके और इस ही निर्विकल्प ज्ञान प्रकाश

का बहुत लम्बे काल तक ध्यान रक्खें, इसके लिए आहार का त्याग है। यदि इस लक्ष्य का परिचय नहीं है, लक्ष्य नहीं है तो तो उसका आहार परित्याग लंघन का रूप रख लेगा। जैसे रोगी पुरुष लंघन किया करता है। करे क्या, रोग से बेचैन है, भूख प्यास लगती नहीं है। खाये तो पीड़ा उत्पन्न होती है। अब उसका लंघन ही सहारा है। इस प्रकार जो यश का रोगी है, कीर्ति का दौरा-दौरा बनाना चाहता है ऐसा पुरुष दस दिन तक का उपवास ठान ले तो वह 10 दिन का उपवास भी लंघन करने की तरह है। अपने यश के लिए उसने आहार का परित्याग किया है। आहार-परित्याग का परमार्थ प्रयोजन यह है कि मैं खाने का विकल्प तक न करूँ और निरन्तर इस निर्विकल्प शुद्ध ज्ञानस्वरूप का अनुभव करता रहूँ- ऐसे ज्ञानी पुरुष को अपने अन्तःस्वरूप में उत्साह जगा है, इसके फल में उपवास हो रहा है, ये बाह्य नियम इस अन्तरंग नियम के पालने के लिए हैं। यों जिसका जो अंतरंग आचरण में, नियम में, परमब्रह्म चैतन्यस्वरूप आत्मा में ठहर जाने का नियम है उसके परमसमाधि प्रकट होती है।

परमआचरण में परमसमाधि- जो पुरुष सम्यग्दर्शन आचरण किये है निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सक, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना- इन 8 अंगों का परमार्थपद्धति से और व्यवहारपद्धति से जो पालन कर रहा है, ऐसे दर्शनाचारवान् पुरुष के परमसमता का भाव प्रकट होता है। जो ज्ञानाचार में कुशल हैं, समता शास्त्र पढ़ना, शुद्ध पढ़ना, अर्थ जानना, गुरुवों की विनय करना, अपने गुरु का नाम न छिपाना आदिक जो ज्ञानाचार हैं उनमें जिनकी वृत्ति है उनके यह समताभाव प्रकट होता है। जो 5 महाव्रत, 5 समिति, 3 गुप्ति का सुविधि पालन कर रहे हैं, जो संसार, शरीर, भोगों से विरक्त रहा करते हैं, ऐसे योगियों के यह परमसमाधि प्रकट होती है। जो 6 प्रकार के बाह्य तप और 6 प्रकार के अंतरंगतप इनमें जो सावधान हैं, ऐसे पुरुषों के परमसमता का भाव प्रकट होता है और इन्हीं सब कामों के करने की जो शक्ति लगाते हैं ऐसे पुरुषों के ही यह कल्याणरूप समता प्रकट होती है। यह समता ही निर्वाण का कारण है। सदा के लिए संकटों से छूट जाँँ इसका उपाय केवल स्वरूप की दृष्टि करना है। स्वाध्याय में, मंदिर में, पूजन में, तपस्या में सर्वत्र एक ही उपाय करना है संकटों से छूटने के लिये। वह उपाय है संकटरहित, निर्विकल्प, स्वतन्त्र ज्ञानानन्दस्वरूप अपने आत्मा को निरखना।

मोही की विपदा- मोही जीव बड़ी विपदा में हैं, मोह छोड़ा भी नहीं जाता और मोह करने से संतोष भी नहीं आ पाता। जैसे एक कहावत है कि 'भई गति सांप छछूँदर जैसी' जैसे सांप किसी छछूँदर को पकड़ ले तो छछूँदर उस सांप से निगली भी नहीं जाती और छोड़ी भी नहीं जाती। दोनों दशावों में सांप की बरबादी है। इसी तरह मोहभाव से ग्रस्त हुआ प्राणी ऐसी दयनीय दशा को प्राप्त है कि कितना भी दुःख पा ले, कलह कितनी ही हो जाय, एक दूसरे को प्रतिकूल मानने लगे तिस पर भी मोह छोड़ा नहीं जाता है, ऐसी हालत है तो फिर आनन्द कहाँ से प्राप्त हो? जो अपने आत्मस्वरूप के दर्शन में परमोत्साह

जगाता है उससे वह समस्त दुराचारों का परिहार करता है। इन बाह्य पदार्थों में कुछ मेरा है, इस प्रकार का जो भाव नहीं रखता है, यों इस मोक्षमार्ग में जो कदम रखता है उसके परमसमाधि प्रकट होती है।

परसमाधि के लिये परमप्रसाद का सहयोग- यह मेरा परमात्मा जो सदा आनन्द का अनुभव कराने के लिए तैयार विराजा हुआ है यह परम गुरुओं के प्रसाद बिना प्राप्त नहीं हो पाता। सर्वोत्कृष्ट विभूति जिसके प्राप्त हो उसके समान दाता जगत में कौन होगा? इस निर्विघ्न तत्त्वज्ञानी योगियों के प्रसाद से पाया हुआ यह निरञ्जन निज कारणपरमात्मा जिनके उपयोग में सदा निकट है उन वीतराग सम्यग्दृष्टि पुरुषों के, जो वीतराग चरित्र का पालन कर रहे हैं, यह समताव्रत स्थायी रहा करता है। परमसमाधि के प्रकरण में उपाय भी बताये जा रहे हैं और इनका अधिकारी कौन है? यह भी बताया जा रहा है। जो शुद्ध दृष्टि वाले जीव हैं वे यह जानते हैं कि तप में, नियम में, संयम में, आचरण में सर्वत्र यह आत्मा ही उपादेय है।

निरपेक्ष शुद्ध तत्त्व की झांकी- भैया ! प्रत्येक कार्य के करते हुए मैं इस शुद्ध निरपेक्ष आत्मस्वरूप का ही लक्ष्य रहे कि यह मैं हूँ। यदि यह ही गुत्थी सुलझ जाय तो संकट मिटेंगे। मैं वास्तव में क्या हूँ, यह स्पष्ट हो जाय तो उसे फिर संसार में संकट नहीं हैं। जो शुद्ध आत्मतत्त्व का ही लक्ष्य रखता है, जो सदा अकम्प भवभय के हरने वाले इस आत्मतत्त्व का ध्यान करता है उसके परमसमाधि प्रकट होती है। इस ही परमसमाधि के प्रसाद से यह आत्मा संसार के संकटों से सदा के लिये सर्वथा छूट जाता है, अतः हम सबका कर्तव्य है कि हम सदा यह विश्वास बनाएँ कि मैं सबसे न्यारा एक ज्ञानज्योतिमात्र हूँ और सहज आनन्दस्वरूप हूँ।

गाथा 128

जस्स रात्रो हु दोसो हु विगणिं जणेति हु।

तस्स सामाङ्गं ठाड् इदि केवलिसासणे ॥128॥

रागद्वेष विकार के अभाव में परमसमाधि- जिस भव्य पुरुष के राग और द्वेष विकारों को उत्पन्न नहीं करते हैं अर्थात् राग और द्वेष विकार नहीं उत्पन्न होते हैं उस पुरुष के समतापरिणाम ठहरता है, ऐसा केवली भगवान के शासन में कहा है। समता नाम है रागद्वेष न उठें और केवल जाननहार रहें, उसी का नाम समाधि है और वही संकटों से मुक्ति देने वाला भाव है। जैसे रास्ता चलते जाते हुए अपन भी सैकड़ों मनुष्यों को देखते हैं, पर उनमें से न किसी मनुष्य पर राग होता है और न द्वेष होता है, किन्तु वे सामने हैं सो जानने में आते ही हैं, जानना कहाँ टाला जाय? जो भी जानने में आया, आ गया। अब उसमें रागद्वेष न होना, यही मोक्ष का मार्ग है, यही परमसामायिक है, यही परमसमाधि है।

रागद्वेष की अनुत्पत्ति का उपाय- जानी हुई चीजों में राग और द्वेष नहीं हो सके, इसका उपाय यह है कि हम वहाँ यथार्थस्वरूप विचारें। जो ये पदार्थ जाने जाते हैं ये मुझसे अत्यन्त भिन्न हैं, न मेरे जन्म के साथ आये हैं और न मरण पर जायेंगे, अत्यन्त भिन्न पदार्थ हैं, चाहे वे कुटुम्बी जन हों, मित्रजन हों अथवा अचेतन हों, कोई भी अन्य पदार्थ हों उनका परिणमन उनके गुणों से उन्हीं के हुआ करता है। उनके परिणमन का असर मुझमें नहीं होता है। मैं स्वयं अपनी कल्पनाएँ उठाकर एक नया असर पैदा कर लेता हूँ। परमार्थतः उनका असर उनमें ही है, उनसे मेरा कुछ काम नहीं बनता है, ऐसा यथार्थस्वरूप ज्ञान में हो तो रागद्वेष नहीं होता है। यथार्थ ज्ञान हो जाने पर किसी परिस्थितिवश रागद्वेष भी करना पड़े तो भी अंतरंग से रागद्वेष नहीं होता है। ज्ञानी गृहस्थ घर में रहता हुआ भी देव की तरह बताया गया है। कर्मबन्ध होता है तो अपने विकारपरिणामों से होता है, घर में रहते हुए भी कोई विकारपरिणाम न करे तो कर्मबन्ध न होगा। जितने विकार रह गए हैं उतना ही बंध होगा।

कर्तव्य के सुनिर्णय की आवश्यकता- भैया ! सर्वप्रथम तो यह बात है कि इस मनुष्य को यह पक्का निर्णय कर लेना चाहिए कि मुझे आत्मकल्याण करना है या दुनिया की वाहवाही लूटना है, दो ही बातें इसके सामने हैं। दुनिया की वाहवाही लूटने में हित कुछ नहीं है, क्योंकि प्रथम तो यह दुनिया ही जो दृश्यमान है, मिटने वाली है, मायामय है, भिन्न है, स्वयं दुःखी है, सभी कर्मप्रेरे हैं, खुद अशरण हैं। इन लोगों से वाहवाही क्या लूटना? दूसरी बात यह है कि यह वाहवाही क्या चीज है? उनके स्वार्थ के कारण उनके कषाय की ये वृत्तियां जगी हैं। वाहवाही भी मायारूप है और दुनिया से वाहवाही चाहने का परिणाम जिसके हुआ हो वह भी मायारूप है, इनमें कुछ तत्त्व नहीं रक्खा है। लेकिन, केवल दुनिया की वाहवाही के पीछे ही तृष्णा बढ़ाते हैं, श्रम करते हैं, मर मिटते हैं, धन बढ़ाते हैं तो वाहवाही लूटने के लिये। अंतरंग में कषाय भरी हुई है, लोग मुझे जानें कि यह धनी लखपति पुरुष है, अच्छे घर का है, चाहे वचनों से न बोला जा रहा हो और शरीर से भी ऐसी प्रवृत्ति न की जा रही हो क्योंकि जहाँ सबके आगे अपनी ही बातें झोंके तो वहाँ उसका निरादर ही होता है किन्तु मन में पोजीशन वाहवाही की कषाय जब तक रहती है तब तक स्व और पर का यथार्थ बोध नहीं होता।

ज्ञानी के कर्तव्य का सुनिर्णय- जब तक यह ज्ञात नहीं है कि इस लोक में मैं अकेला हूँ, मेरा साथी, शरण लोक में दूसरा कोई नहीं है, यह मैं आत्मा अमूर्त, ज्ञानमात्र, ज्ञानानन्दस्वरूप सबसे न्यारा हूँ, इसे कुछ पहिचानना है, उसको कुछ आदर देना है, तब तक मायामय पुरुषों में, मायामय समागम को ही मायामय आदर दिया करते हैं। ज्ञानी पुरुष का यह परिणाम नहीं रहता कि मुझे दुनिया से वाहवाही मिले। यह निर्णय तो ज्ञानी का होगा ही और दूसरा भी यह निर्णय है कि मुझे आत्मकल्याण करना है, क्योंकि न आत्महित किया अर्थात् अपने ज्ञानस्वरूप में अपने ज्ञान को स्थिर न किया तो फल क्या होगा? मरण होगा, कीड़ा पतंगा की कुयोनियों में जन्म लेना होगा, फिर क्या है?

इन्द्रजाल के मोह का फल संसारमहाभ्रमण- इस मनुष्य की यह दुनियावी पोजीशन क्या कुछ मूल्य रखती है? दुनिया (लोक) यह 343 घनराजू प्रमाण है। एक राजू कितना बड़ा होता है, उसका कुछ प्रमाण अनुमान में लायें। जिस द्वीप में हम रहते हैं इसका नाम है जम्बूद्वीप। यह गोलाकार है, इसका डार्डमीटर एक ओर से सामने की ओर तक विस्तार है एक लाख योजन का। दो हजार कोस का एक योजन होता है। एक लाख में दो हजार का गुणा करो, इतने कोस बड़ा है यह जम्बूद्वीप और इससे दूना है एक ओर लवणसमुद्र क्योंकि उस जम्बूद्वीप को घेरकर है ना। सो 2 लाख योजन का लवणसमुद्र एक तरफ है। एक-एक तरफ का ही देखते जाइये। इतना ही दूसरी तरफ का मान लो। लवणसमुद्र से दूना है घातकी खंडद्वीप, उससे दूना है कालोदधि समुद्र, उससे दूना है पुष्करवरद्वीप, इस तरह से चलते जाइये तो ये द्वीप समुद्र अनगिनते हैं। नील, करोड़, शंख, महाशंख नहीं, किन्तु गिनती से परे हैं, इनकी गणना हो ही नहीं सकती है। तब समझ लीजिये अंत में जो स्वयंभूरमणसमुद्र है, जितना विस्तार उसका है उतने से कम में ये अनगिनते द्वीप समुद्र समाये हुए हैं। इतना यह विस्तार अभी पूरा एक राजू नहीं होता, कुछ चौड़ा और मिलाकर एक राजू होता है। ऐसे एक राजू समतल के चारों ओर होने का नाम है एक घनराजू। ऐसे 343 घनराजू यह लोक है। हम आप जिस चँदिया पर पैदा हुए हैं यह कितनी जगह है और इतनी जगह बसे हुए लोगों से वाहवाही का ख्याल बनाना, समझलो कितनी मूढ़ता की बात है? यही तो मोह है, मिथ्यात्व है, अनन्त संसार का भ्रमण हैं।

ज्ञानी की प्रतीति व वृत्ति- ज्ञानी पुरुष के लोक की वाहवाही में रंच भी आस्था नहीं है, उसे आत्महित की धुन लगी हुई है। यह मैं आत्मा अपने को और समस्त परपदार्थों को यथार्थरूप से जानता रहूँ, यही उसकी एक कामना है। केवल ज्ञाताद्रष्टा रहने पर, किसी प्रकार की रागद्वेष की तरंग न होने पर इसका कल्याण निश्चित है। अन्यथा करते जाइए मोह। मोह कर-करके भी अंत में क्या होगा? यथार्थज्ञान नहीं है तो वह बड़ा हीन पुरुष है, लोक में चाहे उसकी वाहवाही भी हो, लेकिन भीतर तो वह कोरा है, गरीब है, कुछ वैभव उसके पास नहीं है, अशान्त रहता है, परपदार्थ में ही उपयोग फँसाये रहता है। आत्महित की धुन रखने वाला ज्ञानीपुरुष रागद्वेष से परे रहता है, अन्याय की बातों से दूर रहता है, किसी पर वह अन्याय नहीं करना चाहता है, बरताव उसका सबके साथ अपने स्वरूप के समान निरखकर हुआ करता है। ऐसे निकटभव्य पुरुष के रागद्वेष विकार नहीं होते हैं और उसके ही परमसमाधि प्रकट होती है, ऐसा जिनेन्द्र भगवान के शासन में कहा है।

ज्ञानमय भाव में ज्ञानमयी वृत्ति- यह संयमी पुरुष परमवीतरागी है। ज्ञान का उदय होने पर वीतराग दशा होती ही है। यथार्थज्ञान हो जाय और भ्रम रहा आए- ये दो बातें एक साथ नहीं होती हैं। जैसे दूर पड़ी हुई रस्सी को कोई सांप मान ले तो भ्रम में उसे आकुलता है, हिम्मत बनाकर निकट जाकर रस्सी को रस्सी समझ जाय और हाथ से उठाकर, टटोलकर निर्णय कर ले, फिर उससे कोई कहे कि तुम फिर

से पहिले जैसा भ्रम बनाकर अपना नाटक दिखावों तो क्या वह दिखा सकेगा? नहीं दिखा सकता। यथार्थ ज्ञान होने पर भ्रम की प्रवृत्ति वह नहीं कर सकता, ऐसे ही यह मेरा हितकारी है ऐसा मानना यही तो मोह है। ये मुझे सुख देते हैं और उनकी ओर आकर्षण हो, वे सुहावने लगे यही तो है राग। यह मेरा बिगाड़ करता है, मेरा विरोधी है ऐसा परिणाम हुआ तो यह तो है द्वेष। यह कब होता है? जब तक भ्रम बना है, अज्ञान बना हुआ है। जहाँ सबकी स्वतंत्रता विदित हो गयी वहाँ फिर रागद्वेष नहीं विकार करते हैं, दृढ़ नहीं होते हैं।

यथार्थ ज्ञान में रागद्वेष का अनवकाश- कोई मेरा लोक में विरोधी नहीं है, जिसने मेरे प्रतिकूल कुछ किया, उसने मेरे प्रतिकूल नहीं किया, किन्तु मैंने अपनी कषायवासना से उसका ऐसा अर्थ लगा लिया कि इसने मेरे प्रतिकूल कुछ कहा है। उसने तो अपना सुख लूटने के लिए जिसमें उसे सुख मालूम पड़ा वैसी चेष्टा की है, उसने हमारा कहाँ विरोध किया है? लोक में मेरा कोई विरोधी नहीं है, जहाँ यह बात विदित हुई वहाँ द्वेष कहां पनप सकता है? इस प्रकार लोक में मेरा कोई सुखकारी नहीं है, वस्तुस्वरूप की ही यह बात है। प्रत्येक जीव हित चाहता है, सुख चाहता है, अपनी सुख शांति जिसमें नजर आए उसही प्रवृत्ति को उसने किया, मेरे से कहां राग किया? मैं भी किसी जीव पर राग नहीं कर सकता हूँ। यह वस्तुस्वरूप के दृढ़ किले की बात कही जा रही है। स्वरूप के किले को कौन तोड़ सकता है? मैं अपने प्रदेश में हूँ। जो कुछ मैं कर सकता हूँ अपने में ही कर सकता हूँ अन्यत्र कुछ नहीं कर सकता।

तत्त्वज्ञ वीतराग संयमी के परमसमाधि- मैं यदि राग परिणमन करता हूँ तो राग परिणमन होने की विधि यह है कि किसी परवस्तु को उपयोग में लेकर राग का विषय बनाकर राग पैदा करूँ। हमारे इस राग परिणमन में जो परवस्तु विषय होता है उसका नाम लेते हैं लोग कि मैंने अमुक से राग किया है। दूसरे पदार्थ में कोई पुरुष राग नहीं कर सकता है। जिसको ऐसा स्पष्ट भान है वह पुरुष राग के विकारों को पनपायेगा क्या? जिसे मोह नहीं है, रागद्वेष नहीं है वही वीतराग भाव धारण करता है। ऐसे वीतराग संयमी पुरुष के जो पाप के वनों को जलाने के लिये अग्नि की तरह है, परमतत्त्वज्ञान है और वैराग्य है। वहाँ पाप की बेल ठहर नहीं सकती है, ऐसे वीतराग संयमी पुरुष के राग और द्वेष के विकार नहीं होते हैं और उन ही सहज आनन्द के अभिलाषी योगीश्वरों के सामायिक नाम का परमव्रत होता है, समता, परमसमाधि प्रकट होती है।

ज्ञानपुन्ज में विकार का अभाव- यह तत्त्वज्ञानी जीव, जिसके शरीर मात्र का परिग्रह रह गया है और शरीर में भी इन्द्रिय के विषयों का प्रसार नहीं है, यह भी एक लकड़ की तरह लगा हुआ है, ऐसे निर्ग्रन्थ, दिगम्बर साधु पुरुष के यह परमसमाधि उत्पन्न हुई है, ऐसा केवली भगवान के शासन में प्रसिद्ध हुआ है। ये पुरुष परमप्रकाशमय हैं इन्होंने ज्ञानज्योति द्वारा अज्ञान, मिथ्यात्व और पाप का अंधकार दूर कर दिया

है। जो ज्ञायकस्वरूप आनन्दमात्र शुद्ध अद्भुत प्रकाश के उपासक हैं, ऐसे पुरुषों के रागद्वेष विकार उत्पन्न नहीं होते हैं।

ज्ञानी की निर्विकल्प अन्तस्तत्त्व की उपासना- अन्तस्तत्त्व के रुचिया, ज्ञानीसंत अपने आपको किस प्रकार निरख रहे हैं, यह मैं आत्मतत्त्व अपने सत्त्व के कारण ज्ञानानन्दस्वभावमात्र हूं। इस आत्मतत्त्व में कोई सी वस्तु न तो है और न किसी वस्तु का निषेध है, वहां विधि और निषेध का विकल्प ही नहीं है। वह तो जो है सो है। जैसे यह चौकी है तो यह चौकी जो है सो है। यह चौकी पुस्तक वाली है, ऐसा चौकी का स्वरूप नहीं है। यह चौकी घड़ीरहित है ऐसा चौकी का स्वरूप नहीं है। पुस्तक की विधि और घड़ी का निषेध बताना यह पर का निमित्त लेकर कथन है, उपचार करके है। यह स्वरूप स्वयं चौकी में नहीं है। इसी प्रकार आत्मा में क्या है और क्या नहीं है, आत्मा किसे ग्रहण करता है, किसे हटाता है? ये कोई विकल्प आत्मा में नहीं है, वह तो जो है सो है, ऐसे निर्विकल्प आत्मतत्त्व की उपासना करने वाले ये अंतस्तत्त्व के रुचियां ज्ञानीसंत कहां रागद्वेष उत्पन्न कर सकेंगे?

निरापद ज्ञानी की आनन्दमयता- भैया ! रागद्वेष ही एक विपत्ति है, अनन्त जीवों में से दो-चार जीवों को छांटकर उनको ही अपना सर्वस्व मान ले और अपना जीवन तन, मन, धन, वचन, सब कुछ उन पर ही न्यौछावर कर दे, यही तो एक बड़ी विपदा है, परन्तु यह मोही जीव इस विपदा में ही राजी है। इन विकारों से विविक्त ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र निज तत्त्व की रुचि नहीं कर सकता है यह। सहज कारणसमयसार का दृढ़ता से जो आश्रय करते हैं, अपने उस परमात्मतत्त्व के दर्शन किया करते हैं ऐसे ही मुनि स्वभाव परिणमन होने के कारण समतारस से भरपूर रहा करते हैं, न उनमें रागपरिणमन होता है और न उनमें द्वेष परिणमन होता है। ऐसे ये वीतराग संयमी पुरुष सदा आनन्द से परिपूर्ण रहा करते हैं।

स्वहित भावना- हम आपका यह कर्तव्य है कि कम से कम यह तो ध्यान बनाए रहें कि मैं आत्मा सबसे न्यारा सत् हूं और जो कुछ भी यहां समागम मिले हैं ये भिन्न हैं, मिट जाने वाले हैं और इन समागमों का परिणमन मेरे में कुछ नहीं आता है। ये समस्त पदार्थ अपने आपमें अपना परिणमन करके समाप्त होते रहते हैं। इन वस्तुओं का मुझसे कुछ सम्बंध नहीं है, ऐसा यथार्थ ज्ञानप्रकाश तो रहे। इस ज्ञानप्रकाश में ही अपने आपकी अतुल अपूर्व निधि मिलेगी। जिसे इसकी श्रद्धा नहीं है उसका देव, शास्त्र, गुरु की भक्ति करना, पूजन विधान करना, ये सब बेकार से हैं। उसके यह श्रद्धा ही नहीं है कि ऐसी अतुल निधि भी किसी के प्रकट होती है, प्रभु के ऐसा अपूर्व ज्ञान, तेज विकसित हुआ है। यदि भगवान के इस स्वरूप की श्रद्धा होती तो अपने आपमें भी ऐसी स्वरूप की दृष्टि बनती। यदि अपने आपके इस सहज ज्ञानानन्दस्वभाव की दृष्टि बनायी होती तो भगवंत में भी इस ज्ञानप्रकाश की दृष्टि हो जाती। यह ज्ञानप्रकाश ही परमशरण है, यही उत्कृष्ट वैभव है, इसमें ही सहज आनन्द का विकास होता है, अतः सब प्रयत्न करके इस ज्ञानमूर्ति आत्मतत्त्व के ज्ञान करने में निरत रहना चाहिए।

गाथा 129

जो हु अट्टं च रुद्दं च झाणं वज्जेदि विच्चसा।
तस्स सामाइगं ठाइ इदि केवलिसासणे ॥129॥

जो पुरुष नित्य आर्तध्यान और रौद्रध्यान को तजते हैं उनके सामायिक स्थायी है, ऐसा भगवान के शासन में कहा है।

ध्यान का निर्देश- संसार में जितने भी जीव हैं वे किसी न किसी ध्यान में निरन्तर रहते हैं। 12वें गुणस्थान तक तो ध्यान बताया ही है, 13वें और 14वें में उपचार से कहा है। ध्यान 16 होते हैं- चार आर्तध्यान, चार रौद्रध्यान, चार धर्मध्यान और चार शुक्लध्यान। आर्तध्यान में तो खेद का परिणाम होता है, रौद्रध्यान में क्रूरता का परिणाम होता है जिसमें मौज माना जाता है और धर्मध्यान में धर्म की बात का ध्यान होता है और शुक्लध्यान में रागद्वेषरहित केवल ज्ञाताद्रष्टा रहता है।

धर्मध्यान व शुक्लध्यान में विशेषता- धर्मध्यान और शुक्लध्यान में अन्तर इतना है कि धर्मध्यान में तो विकल्प साथ रहता है- भगवान की भक्ति की, स्तवन किया, तत्त्व का चिन्तन किया, स्वाध्याय किया, ये सब धर्मध्यान है। इनमें रागांश काम करता है। बिना राग अनुराग के धर्म ध्यान नहीं बनता है। राग तो है, किन्तु अच्छी जगह राग है, धर्म की ओर राग है, उस मय का जो ध्यान है उसका नाम धर्मध्यान है और जहां रागद्वेष नहीं हैं, केवल एक ज्ञानप्रकाश का प्रवर्तन चल रहा है ऐसी जो स्थिरता है उसको कहते हैं शुक्लध्यान। यह संसारी जीव आर्तध्यान और रौद्रध्यान के कारण संसार में रुल रहा है। धर्मध्यान और शुक्लध्यान तो मोक्ष के कारण हैं, किन्तु आर्तध्यान और रौद्रध्यान संसार के ही कारण हैं।

इष्टवियोगज आर्तध्यान- आर्ति का अर्थ है पीड़ा। उस पीड़ा सहित जो ध्यान है उसका नाम आर्तध्यान है। जैसे इष्ट का वियोग होना। जो बड़ा अनुरागी था, जिसमें चित्त रमा करता था ,ऐसा कोई अभीष्ट जीव का अथवा पदार्थ का वियोग हो गया, धन का वियोग, परिजन का वियोग, मित्र का वियोग हो गया तो उस वियोग के होने पर मन में क्लेश उत्पन्न होना और संयोग के लिए ध्यान बनाना, पूर्वकाल का संयोग बिछुड़ना, वर्तमान में संयोग की आशा रखना, ये सब इष्ट वियोगज आर्तध्यान हैं। यह आर्तध्यान भी इस जीव को उन्मत्त जैसा बना देता है। लक्ष्मण के वियोग में, सीताहरण में , श्री राम ने भी इष्टवियोगज आर्तध्यान माना था।

कर्मविपाकवश ज्ञानियों के भी किसी पद तक इष्टवियोगज आर्तध्यान की संभावना- यह आर्तध्यान छठे गुणस्थान तक चलता है। इतना अन्तर है कि छठे गुणस्थान में जो इष्टवियोगज आर्तध्यान है वह कुछ शुभ

संकल्प की बाधा में हुआ करता है। जैसे कोई प्रिय शिष्य है, उसका वियोग हो जाय, मरण हो जाय अथवा अन्य प्रकार का वियोग हो जाय, उस वियोगकाल में खेद आना अथवा गुरु का वियोग हो जाय तो शिष्य साधु को खेद आना, यह इष्टवियोगज आर्तध्यान है। पंचम गुणस्थान में मिथ्यादृष्टियों की तरह तो आर्तध्यान नहीं है, लेकिन कुछ झलक आती रहती है क्योंकि यह गृहस्थ भी आरम्भ परिग्रह में पड़ा हुआ है जिससे ऐसे अनेक अवसर आते हैं जिसमें विषयों के साधनों में अथवा परिग्रहों में बाधा आ जाती है। उस काल में जो ध्यान होता है ऐसे श्रावक के भी इष्टवियोगज आर्तध्यान है। चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीवों के यह इष्टवियोगज आर्तध्यान पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक की अपेक्षा अधिक लम्बे काल तक और कुछ अधिक शक्तिपूर्वक होता है। जैसे प्रसिद्ध है कि बलभद्र नारायण के वियोग में 6 महीने तक आकुलित हो जाता है।

मिथ्यात्व में इष्टवियोगज आर्तध्यान की प्रबलता- मिथ्यादृष्टि के आर्तध्यान का तो संस्कार बड़ा लम्बा है। कहो इस जीवनभर भी न छूटे और मरण के बाद परभव में भी कहो साथ जाय। कैसा भी इष्ट का वियोग हो, पर ऐसा संस्कार यह अज्ञानी जीव बना लेता है कि परभव में भी साथ जाता है। जैसे सुकौशल की मां जब सुकौशल के पिता विरक्त हो गए थे तो सुकौशल की मां को केवल अपने पुत्र का ही आधार था और पुत्र को देख-देखकर राजी रहकर समय गुजारती थी, किन्तु कुछ समय बाद ऐसा भी अवसर आया कि सुकौशल भी छोटी अवस्था में मुनि बन गया। अब मां के वियोग की सीमा और बढ़ गई। उस दुःख में निरन्तर वह संक्लिष्ट रहने लगी और इतना बड़ा संक्लेश हुआ कि मरण करके सिंहनी हुई और उसने परभव में अपना बदला लिया। काहे का बदला कि वियोग होने से जो उसे संक्लेश हुआ था तो उसकी दृष्टि में आया कि इसकी वजह से मुझे जीवन में क्लेश रहा, तो सिंहनी ने सुकौशल पर प्रहार किया। यद्यपि सुकौशल वीतराग संयमी पुरुष थे, सिंहनी के इस आक्रमण पर भी उन्होंने अपना ध्यान नहीं छोड़ा, उनको केवलज्ञान की प्राप्ति हुई, वे सिद्ध हो गये। बाद में सुकौशल के पिता जो मुनि थे उन्होंने सिंहनी को सम्बोधा कि तूने बड़ा अनर्थ किया, वह तेरा ही तो पुत्र था। सिंहनी ने प्रतिबोध में आकर इतना प्रायश्चित्त किया कि उसी समय आजीवन अन्न-जल का त्याग कर दिया और संन्यास मरण से मरकर सिंहनी स्वर्ग में देव हुई। तो प्रयोजन यह है कि इष्टवियोगज आर्तध्यान मिथ्यादृष्टियों को जीवन में भी पीड़ा देता है और मरण के बाद परभव में भी दुःख देता है। जो जीव इस आर्तध्यान को तजता है उसके ही तो समतापरिणाम हो सकता है।

अनिष्टसंयोगज आर्तध्यान व इसकी ज्ञानियों के भी किसी पद तक संभावना- अनिष्ट संयोगज आर्तध्यान भी पहिले गुणस्थान से लेकर छठे गुणस्थान तक रहता है, किन्तु छठवें गुणस्थान में किसी उत्तम इरादे के मूल पर यह आर्तध्यान होता है। जैसे अपने ध्यान संयम में बाधा देने वाला कोई पुरुष सामने आ जाय तो उनके लिए वह अनिष्ट है। अनिष्टों का संयोग होने पर जो उनके कुछ खेद होता है

वह अनिष्ट संयोगज आर्तध्यान है अथवा कोई शिष्य खोटा निकल जाय, धर्म का कुछ विपरीत कार्य भी कर चुका हो तो उसे देखकर गुरु के चित्त में खेद हो जाना सो अनिष्ट संयोगज आर्तध्यान है। पंचम गुणस्थान वाले श्रावकों के यह अनिष्ट संयोगज आर्तध्यान कुछ विशेष डिग्री को लेकर होता है, क्योंकि इस गृहस्थ के आरम्भ और परिग्रह लगा हुआ है, तो गृहस्थ श्रावक के जब आरम्भ परिग्रह में बाधा देने वाले लोग सामने आते हैं, अथवा यह श्रावक मंदिर संस्थाएँ आदि धर्मकार्यों को संभालता है उन धर्मकार्यों में भी कोई बाधा देने वाला समक्ष आए तो ये सब पंचम गुणस्थान वालों के लिए अनिष्ट कहलाते हैं। ऐसे अनिष्ट व्यक्तियों के समागम होने पर जो खेद उत्पन्न होता उसे अनिष्ट संयोगज आर्तध्यान कहते हैं। चतुर्थ गुणस्थान वाले के व्रतियों की अपेक्षा और विशेष होता है।

मिथ्यात्व में अनिष्ट संयोगज आर्तध्यान की प्रबलता- अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जनों के यह अनिष्ट संयोगज आर्तध्यान इस जीवन भर क्लेश पहुंचाता है और मरण के बाद अन्य भव में भी क्लेश पहुंचाता है। मरुभूति और कमठ का चरित्र सुना ही होगा। कमठ बड़ा भाई अपने छोटे भाई मरुभूति की स्त्री पर कुछ अनुरागी हुआ और कुछ उपद्रव भी करना चाहा। मरुभूति उस समय राजा का मंत्री था। राजा ने इस खोटे विचार को सुनकर कमठ को गधे पर बैठा कर, मुँह काला करके नगर से बाहर निकलवा दिया। अब यह कमठ साधु-संन्यासी का भेष धारणकर भूत लगाकर और हाथ के ऊपर एक वजनदार शिला रखकर खड़े होकर तप करने लगा। अज्ञानियों का तप लोगों के बहकाने के लिये होता है, जो बाहरी अपमान से दुःखी होकर अथवा कोई अपराध करके, हत्या करके उन अपराधों को मिटाने की गरज से जो साधुभेष रख लिया जाता है वह कुछ सही मायने की बात नहीं है। खैर, यहाँ तो कमठ तपस्या का ढोंग करने लगा, वहाँ मरुभूति को जब विदित हुआ कि कमठ इस तरह से घर छोड़कर भाग गया तो मरुभूति ने उसके अपराध का भी विचार नहीं किया और सीधा कमठ के पास पहुंचा और कहा- भाई मेरा कुछ अपराध हो तो क्षमा करो, घर चलो, लेकिन कमठ को ऐसा क्रोध आया कि जो मन, डेढ़ मन की शिला लिए हुए था उसी को मरुभूति पर पटक दिया। मरुभूति का देहान्त हो गया।

मिथ्यात्व में कुध्यान की भवभवान्तरों में भी पीड़ा- कमठ का यह रोष उस भव में ही शान्त हो गया, सो भी नहीं। इस कमठ ने अनेक भवों में शेर, हाथी, सांप सब कुछ बन-बनकर मरुभूति को कष्ट पहुंचाया और मरुभूति के प्राणांत का कारण बना। उस कमठ को वह मरुभूति अनिष्ट जँचने लगा था कि इस मरुभूति की वजह से हमारा अपमान हुआ। यद्यपि मरुभूति निर्दोष था, लेकिन कमठ ने अपनी कल्पना में मरुभूति को अनिष्ट माना और अनिष्ट संयोगज आर्तध्यान इतना बढ़ा कि भव-भव में कमठ ने मरुभूति के जीव पर उपसर्ग किया। यहाँ तक कि मरुभूति का आत्मा जब पार्श्वनाथ के रूप में आया तो साधु अवस्था में ध्यान करते हुए पार्श्वनाथ पर जो कमठ अब ज्योतिषी देव बना हुआ था, अनेक उपसर्ग किया। फिर क्या हुआ, यह आगे की बात है, लेकिन अनिष्ट संयोग के ध्यान में कैसा परिणाम बन जाता है कि भव-

भव में यह उससे होता रहता है। यों अनिष्ट संयोगज आर्तध्यान को जो साधु तज देता है उसके ही समताव्रत स्थायी होता है।

वेदनाप्रभव आर्तध्यान- तीसरा आर्तध्यान है वेदनाप्रभव। शरीर में कोई रोग की वेदना हो जाय, उसके कारण जो पीड़ा का निरन्तर ध्यान बना रहता है और यह पीड़ा अधिक न बढ़े, ऐसी जो शंका बनी रहती है उस पीड़ा को दूर करने के लिए जो अनेक प्रकार के ध्यान बना करते हैं ये सब हैं वेदनाप्रभव नामक आर्तध्यान।

निदाननामक आर्तध्यान- ऐसे ही निदान नामक आर्तध्यान है। यह पंचम गुणस्थान तक ही रहा करता है। किसी भी भविष्य की घटना के लायक मन में भाव बनाना, आशा रखना, इसका नाम है निदान। सम्यग्दृष्टि जन तो उत्तम बात का निदान रखते हैं। मैं विदेह क्षेत्र में उत्पन्न होऊँ, ऐसा तप का योग करूँ, मुझे संसार से मुक्ति मिलने का अच्छा साधन मिले, वज्रवृषभनाराच व संहनन मेरे हों, मनुष्यभव की प्राप्ति हो आदिक कल्पनाएँ करना, ये सब निदान हैं। शुभ निदान हो तो भी निदान में पीड़ा तो होती ही है। कैसी भी भविष्यकाल की आशा बनाने में थोड़ा तो क्लेश रहता ही है। चाहे शिव लाभ की आशा करें और चाहे विषयों के लाभ की आशा करें।

मोह में अशुभनिदान- मिथ्यादृष्टि जीवों के अशुभ निदान होता है। वे सांसारिक मौज के लिये इन्द्र, राजा सब कुछ बनना चाहते हैं। मिथ्यादृष्टि जीव तपस्या भी करे उस तपस्या का प्रयोजन कोई ऊँचा देव बनूँ, राजा महाराजा होऊँ, ऐसी कामना रहती है। आशा करने से कहीं सिद्धि नहीं हो जाती, परन्तु पुण्य यदि किया हो अधिक और निदान में मांगा हो छोटी बात तो जैसे बड़ी पूँजी वाले को छोटी चीज खरीद लेना आसान है ऐसे ही बड़े पुण्य के होने पर मामूली जो इच्छा की, उसकी प्राप्ति हो जाना आसान है और इसी कारण शास्त्रों में अनेक जगह ये आया है कि मुनि ने निदान बाँधा कि मैं अमुक सेठ का लड़का होऊँ तो वह वहाँ लड़का हुआ। इसका अर्थ यह लेना कि मुनि के इतना विशाल पुण्य था कि वह यदि यह मांग न रखता तो इससे कई गुणी विभूति में वह होता। ये चार प्रकार के आर्तध्यान इस जीव को संसार में रूलाने के कारण हैं।

हिंसानन्द रौद्रध्यान- रौद्रध्यान भी संसार के कष्ट ही देने वाला है। हिंसा करते हुए आनन्द मानना, किसी ने हिंसा की हो, उसको शाबासी देना, हिंसा देखकर बड़ा खुश होना, बड़ा अच्छा मारा, किसने मारा, बड़ा बहादुर है। मन से, वचन से, काय से, करके, कराके, अनुमोद के हिंसा में आनन्द मानना सो हिंसानन्द रौद्रध्यान है। इसमें यह मानता तो मौज है, परन्तु आशय बड़ा क्रूर है, रुद्र है। रुद्र आशय वाला जीव आर्तध्यान से भी अधिक पाप करता है और इसी कारण रौद्रध्यान छठे गुणस्थान में जरा भी नहीं पाया जाता है जबकि तीन आर्तध्यान छठे गुणस्थान में भी हो सकते हैं।

मृषानन्द रौद्रध्यान- झूठ बोलकर आनन्द मानना, किसी का मजाक करके, किसी को फँसा करके, किसी की निन्दा करके, अप्रिय वचन बोलकर इत्यादि अनेक प्रकार के कार्यों में आनन्द मानना, सो मृषानन्द नामक रौद्रध्यान है। कितने ही लोग इस बात से ही खुश रहा करते हैं कि इनकी बात उन्हें भिड़ाई, उनकी बात इन्हें भिड़ाई, दोनों को लड़ा दिया, ऐसी चुगलखोरी करके मौज मानना, यह सब मृषानन्द रौद्रध्यान है।

चौर्यानन्द रौद्रध्यान- कितने ही लोग चोरी करके मौज मानते हैं। चोरी का उपाय बता देते हैं, किसी का बैर निरोध हो तो चोरों को सारा उसका भेद बता देना, यह सब चौर्यानन्द रौद्रध्यान है या अन्य किसी रूप में चोरी करके मौज समझना सब चौर्यानन्द रौद्रध्यान है। ये सभी रौद्रध्यान संसार में रुलाते हैं, विकट कर्मों का बंध कराते हैं।

विषयसंरक्षणानन्द रौद्रध्यान- चौथा रौद्रध्यान है विषयसंरक्षणानन्द। विषयों के जितने साधन हैं उन साधनों की रक्षा करते हुए आनन्द मानना सो विषयसंरक्षणानन्द है। स्पर्शनइन्द्रिय के विषय, ठंडे-गर्म पदार्थों के विषय, इनकी रक्षा करते हुए मौज मानना, रसनाइन्द्रिय के विषय सरस, स्वादिष्ट भोजन के साधनों की रक्षा करते हुए आनन्द मानना, इसी प्रकार घ्राणेन्द्रिय के विषय इत्र, फुलेल इत्यादि को सजाकर रखने में आनन्द मानता, सो रसनाविषयक विषयसंरक्षणानन्द है। जो नेत्रों को प्रिय लगें ऐसे रमणीक पदार्थों को देखकर आनन्द मानना सो नेत्रइन्द्रिय का विषयसंरक्षणानन्द है। इसी प्रकार संगीत, गायन, राग भरी बातें इनके सेवन में आनन्द मानना सो कर्णेन्द्रिय का विषयसंरक्षणानन्द है। इन विषयों के अतिरिक्त एक मन का विषय है, वह बड़ा विकट विषय है। इसने तो सीमा ही तोड़ दी है। कोई यश चाहता है, पोजीशन चाहता है, सभी लोग मुझे महान् मानें यों अपने बड़प्पन के लिए जो नाना कल्पनाएँ करता है और कुछ बात कभी सिद्ध हो गयी तो उसमें बड़ा मौज मानता है, ये सब उसके मन के विषयसंरक्षणानन्द हैं। यों इस रौद्रध्यान के कारण यह जीव संसार में जन्म-मरण करके दुःखी हो रहा है।

आर्त रौद्रध्यान के त्याग में सामायिक व्रत- इन 8 प्रकार के खोटे ध्यानों का जो परित्याग करते हैं उनके ही निरन्तर सामायिक व्रत चलता है। ये योगीश्वर जीव हमेशा इस निरन्जन निज कारणसमयसाररूप जो अपना आत्मतत्त्व है उसके आलम्बन से एक वीतराग शुद्ध आनन्द प्रकट होता है उस आनन्द में ही तृप्त रहा करते हैं। यह जीव आर्तध्यान और रौद्रध्यान का निरन्तर त्याग रखता है। आर्तध्यान के फल में तो यह जीव पशु-पक्षी आदिक तिर्यन्चों में जन्म लेता है, मुख्यता से कहा जा रहा है, किन्तु रौद्रध्यान के फल में तो यह जीव नरक आदि गतियों में उत्पन्न होता है। इन दोनों प्रकार के ध्यानों को जो नित्य छोड़ता है उसके ही निरन्तर सामायिक व्रत होता है। इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान के शासन में यह बात प्रसिद्ध की गई है कि जो मुनि इन दोनों प्रकार के ध्यानों को छोड़ता है उसके सामायिक नाम का व्रत होता है। इस ही सामायिक का जो उत्कृष्ट रूप है वह है- परमसमाधि महाव्रत। परमसमाधि का अधिकारी

एक त्यागी महापुरुष ही हो सकता है। हमें भी अपने जीवन का उद्देश्य बदलना चाहिए और ऐसे आत्महित के लिए ही मेरा जीवन है ऐसा अंतरंग में निर्णय रखना चाहिए। सांसारिक काम तो पुण्य-पाप के अनुसार हमारे थोड़े ही उपयोग से स्वतः बन जाते हैं। अपने पुरुषार्थ का प्रयोग आत्महित के लिये ही हो, ऐसी भावना और यत्न होना चाहिए।

गाथा 130

जो हु पुण्णं च पावं च भाव वज्जेदि णिच्चसा।

तस्स सामाइगं ठाई इदि केवलिसासणे ॥130॥

पुण्यपापभाव के त्याग में समता- जो योगी पुण्य और पापरूप भावों को नित्य ही त्यागता है उसके सामायिक स्थायी है, ऐसा केवली के शासन में कहा है। इसमें साक्षात् तो पुण्यभाव और पापभाव के संन्यास की भावना है और उपचार से पुण्यकर्म और पापकर्म जो पौद्गलिक हैं उनके संन्यास की भावना है। यह जीव जब शान्ति और उन्नति के मार्ग में चलता है तब अपने ही शुद्ध परिणामों का कर्ता होता है। जो पुरुष पुण्य-पापरहित केवल ज्ञायकस्वरूप अपने आत्मा का अनुभव करता है उसके कर्म स्वयं खिर जाते हैं। जो पुण्यपापभाव को निरन्तर त्यागता है उसके सामायिक स्थायी है।

तथ्यसूचक उपचारस्तवन- प्रभु से भीख मांगने पर कर्म नहीं खिरते हैं कि हे प्रभु ! मेरे ज्ञानावरणादिक कर्म दूर कर दो, इन दुष्टों ने मुझे रुलाया है, इनको मेरे से निकाल दो और हमको रख लो, ऐसा कुछ मांगने से काम नहीं बन सकता। यह तो एक प्रभु की भक्ति है। चूँकि प्रभु के स्वरूप के स्मरण के माध्यम से हमें आत्मतत्त्व की सुध हुई है और जिस आत्मतत्त्व की सुध के कारण कर्म दूर होते हैं उसका निमित्त, आश्रय, विषय प्रभु है, इस कारण प्रभु की बात कही जाती है यह आदर की बात है। जैसे कोई त्यागी पूछे कि आपके मकान के बारे में कि यह मकान किसका है, तो आप कह देते है कि महाराज यह मकान आपका ही है। तो क्या वह मकान महाराज का हो गया? महाराज के बहुमान से, सम्मान से ऐसा कहा गया है। यहाँ अन्तर में ऐसा भाव पड़ा है मालिक के कि महाराज जैसे अन्य साधु-संतों की भक्ति के प्रमाद से, आशीर्वाद से पुण्य फला है और हमें यह सम्पदा मिली है। इस तथ्य को उपचार में लेकर इन शब्दों में कहा जाता है। प्रभु कष्ट कर्मों का विध्वंस कर देंगे, ऐसा कहना उपचारमात्र है।

स्वयं के पुरुषार्थ बिना सिद्धि का अभाव- भैया ! स्वयं के किए बिना सिद्धि न होगी। लोक में यह बात प्रसिद्ध है कि स्वयं के मरे बिना स्वर्ग नहीं मिलता, स्वयं के किए बिना सिद्धि नहीं होती है। तब करना क्या है? अपने परिणामों को निर्मल करना है। लोक में किसी भी जीव का कोई दूसरा जीव न साथी है, न किसी प्रसंग में मददगार है, न कुछ कर सकता है। इतना तक भी तो नहीं है कि कोई दूसरा जीव मुझ

पर प्रीति कर सके। जो भी प्रीति करता है वह अपनी कषाय से प्रीति करता है। कषाय से उत्पन्न हुई वेदना को शांत करने के लिये प्रीतिरूप परिणाम भी अपने आपमें उत्पन्न करता है। यह आत्मा किसी दूसरे पदार्थ में कुछ भी करने में समर्थ नहीं है यह तो ज्ञानस्वरूप है। जो कुछ करेगा वह ज्ञानस्वरूप का ही काम करेगा। उन्नति के लिए हमें अपने आप दृष्टि बनाना है कि मैं आत्मा समस्त परपदार्थों से न्यारा इस देह से भी जुदा केवल ज्ञानमात्र तत्त्व हूं, ऐसी अनुभूति करनी होगी। उसके प्रसाद से ये कर्म अपने आप खिर जायेंगे।

राग की आर्द्रता के अभाव में कर्म का निर्जरण- जैसे गीली धोती नीचे गिर जाय और उसमें धूल भिड़ जाय तो विवेकी लोग यों करते हैं कि धीरे से उसे सूखने डाल दिया। जब वह धोती सूख जाती है तो झटका दिया, तब वह धूल झड़ जाती है। धूल के चिपटने का कारण वहाँ गीलापन था, गीलापन खत्म हुआ कि जरा से झटके में धूल दूर हो जाती है, ऐसे ही कर्मों के बन्धन आत्मा के रागद्वेष की गिलाई से हुए हैं। तत्त्वज्ञान और वैराग्य के प्रताप से जब रागद्वेष की गिलाई सूख जाती है तो ये अष्टकर्म अपने आप झड़ जाते हैं। यह ज्ञानी तो भावना करता है पुण्य-पापरहित सर्व प्रकार के विकारों से रहित अविकारी स्वरूप ज्ञानतत्त्व की।

पूजा में प्रभुदर्शन और त्यागभावना- गृहस्थ भी पूजन में एक पद बोलते हैं प्रस्तावना में.. अर्हन् पुराणपुरुषोत्तमपावनानि वस्तुनि नूनमखिलान्ययमेक एव। अस्मिन् ज्वलद्विमलकेवलबोधवन्हौ पुण्यं समग्रमहमेकमना जुहोमि। हे अरहंत, हे पुराण हे पुरुषोत्तम ! आपके सामने ये नाना पवित्र वस्तुएँ रक्खी हैं, क्या-क्या रक्खी हैं सो निरखते जाइये। अष्ट द्रव्यों से सजा हुआ थाल रक्खा है, बर्तन भी सब पवित्र रक्खें हैं, सामने भगवान की मूर्ति पवित्र है, यह पूजक भी नहा-धोकर, पवित्र कपड़े पहिने हुए है यह और पूजक भी स्नान करके पवित्र हुआ है। व्यवहारिक पवित्रताएँ सब वहाँ उपस्थित हैं। ऐसी स्थिति में यह पुजारी कह रहा है कि ये नाना पवित्र वस्तुएँ हैं, किन्तु हे नाथ ! मुझे तो यह सब कुछ एक ही दिखता है। जिसका जो प्रयोजन है उसको सब बातों में वही एक नजर आता है। जिसको किसी एक चीज की बड़ी खुशी हुई हो, वह बातें भी अनेक करे तो भी उसके चित्त में वह एक ही बात बसी हुई है। हे नाथ ! मुझे तो ये सब ठाठ, मंदिर, प्रतिमा, द्रव्य, थाल- ये कुछ भी नाना नहीं नजर आ रहे हैं, वहाँ तो सब एक ही भाव दिख रहा है। वह क्या है? यह जाज्वल्यमान् प्रकाशमय केवल ज्ञानपुन्ज। इस ज्ञानपुन्ज अग्नि में मैं इस समस्त पवित्र सामग्रियों को होमता हूं।

उपासक की सकल संगसंन्यासभावना- इसमें देखिये कितने भाव भरे हैं- यह न जानना कि जो थाल में सजे हुए द्रव्य हैं उनको ही होमता हूं, जितनी भी विभूति मिली हैं- धन, मकान, वैभव, प्रतिष्ठा, इज्जत ये सब कुछ मैं त्यागता हूं। इस प्रकार अपने ज्ञान में वह पुजारी यों देख रहा है कि मुझमें कुछ भी पदार्थ नहीं है। ये वैभव ठाठबाट सब अचेतन हैं, जुदे हैं इनसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है और ऐसी ही असम्बन्ध बुद्धि को कर रहा है। मोही जीव तो एक सेकेण्ड को भी अपने को सबसे न्यारा निरख नहीं सकते हैं। इस ज्ञानी जीव ने अनेक प्रसंगों में थोड़ा ही यत्न किया, इन्द्रियों को संयत किया, आँखें मीची कि सबसे

विविक्त केवल ज्ञानपुञ्ज को निहार लेता है यह। ऐसा अपने आपके विविक्तस्वरूप का उपासक यह पुजारी कह रहा है कि मैं समस्त वैभव को होमता हूँ।

ज्ञानी की पुण्यकर्मसंन्यासभावना- यह ज्ञानी वैभव को ही होम रहा है, इतना ही नहीं, यह सब वैभव ठाठबाट जिस पुण्यकर्म उदय से मिला है उस पुण्यकर्म में भी इस ज्ञानी के आदर बुद्धि नहीं है। इससे यह भी उसका परिणाम बन रहा है कि मैं इन समस्त पुण्यकर्मों को भी होमता हूँ। पापकर्म भी मेरा स्वरूप नहीं है और पुण्यकर्म भी मेरा स्वरूप मेरा नहीं है। इसलिए इन पौद्गलिक अचेतन पुण्यकर्मों को भी मैं स्वाहा करता हूँ।

ज्ञानी की पुण्यभावसंन्यासभावना- यह ज्ञानी कर्मों से ही उपेक्षित होता है, इतना ही नहीं, किन्तु पुण्यकर्म का बंध जिस परिणाम से हुआ था वह परिणाम है शुभोपयोग। प्रभु की भक्ति करना, उपकार, दया, दान का भाव रखना, ये सब कहलाते हैं शुभोपयोग। इस शुभोपयोग में भी ज्ञानी की आस्था नहीं है, ये मुक्ति नहीं दिलाते हैं, ये परम्परया सहकारी कारण हो सकते हैं, पर वास्तव में तो एक शुद्ध ज्ञायकस्वरूप के अनुभव से ही मुक्ति प्राप्त होती है। यह पुजारी यहाँ कह रहा है कि मैं इन समस्त शुभ-अशुभ भावों को होमता हूँ। देखो कितना उत्कृष्ट ज्ञानी है यह गृहस्थ पुजारी? पूजा करते हुए भी प्रभु की भक्ति करते हुए भी उस भक्ति और पूजा के परिणाम को होम रहा है और एक शद्धि निर्विकार ज्ञानस्वरूप के अनुभव का उत्सुक बन रहा है। बाह्य और आभ्यंतर परिग्रह के त्यागी संत तो इस पुण्यभाव और पापभाव को होम ही रहे हैं।

ज्ञानी का अन्तश्चिन्तन- परम जिनयोगीश्वर पुण्यपापरहित अन्तस्तत्त्व का चिन्तन कर रहे हैं। इन ही योगीश्वरों के चरण-कमल की वैयावृत्य करने से, पैर दबाने से, शरीर की अनेक सेवाएँ करने से, अनेक वैयावृत्य करने से या ज्ञानध्यान का सुयोग मिलाएँ, ऐसी अनेक सेवाओं के प्रसाद से जो पुण्यकर्म उत्पन्न होते हैं उन पुण्यकर्मों के भी त्यागने की बात यहाँ कही जा रही है। यह ज्ञानी यह नहीं सोच रहा है कि मैं इन पुण्यकर्मों को त्याग रहा हूँ। पुण्यकर्म तो भिन्न हैं, परद्रव्य हैं, उनको न मैं ग्रहण करता हूँ, न त्यागता हूँ, किन्तु पुण्यभाव के होने पर ये पुण्यकर्म स्वयं बँधते हैं और शुद्धोपयोग के होने पर पुण्य-पाप कर्म सभी समाप्त हो जाते हैं। यह तो पुण्य-पाप से रहित केवल ज्ञानानन्दस्वरूप को निरख रहा है। उसके इस निरखने में ये समस्त कर्म दूर हो जाते हैं।

पुण्यकर्म के साधनों में प्रधान साधन- ये पुण्यकर्म, पुण्यकर्म के साधनों से उत्पन्न होते हैं। उन सब साधनों में प्रभु भक्ति और साधुसेवा- इन दो का उच्चस्थान है। यह धन-वैभव, हाथ-पैर पीटने से उपार्जित नहीं होता है। यह तो जो पहिले पुण्य बना था उसका जो उदय है, उसके अनुकूल समागम मिलता है। ये पुण्यकर्म भी अट्ट-सट्ट जिसके बँधना को बँध जाएँ, इस तरह नहीं बँधते हैं, किन्तु जो शुभभाव करते हैं उनके बँधते हैं। उन शुभभावों में सबसे प्रधानभाव है प्रभुभक्ति और साधुसेवा। इन दो कर्तव्यों के प्रताप से उत्कृष्ट पुण्य बंध होता है, ऐसे पुण्यकर्म को भी यह योगी त्याग रहा है और हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह इनके परिणाम के करने से पापकर्म उत्पन्न होते हैं, इन पापकर्मों को भी यह योगी त्याग रहा है।

ज्ञानी का सहज वैराग्य- ज्ञानी के तो सहज परमवैराग्य प्रकट हुआ है अथवा यों कहो कि ये साधुसंत वैराग्यरूपी महल के शिखर में जड़े हुए कलश की तरह हैं, ये विरक्त ज्ञानी संत इन पुण्य-पाप कर्मों का त्याग कर रहे हैं। जो पुण्य-पाप कर्म इस संसारविलास को उत्पन्न करने के एकमात्र साधन हैं। मोह रागद्वेष इन परिणामों से पुण्य-पाप कर्म बँधते हैं और इन पुण्य-पाप कर्मों के प्रताप से यह संसार का विलास बढ़ता है। यह समस्त संसार केवल दुःख का घर है। किस परिस्थिति में यह जीव सुखी हो सकता है ऐसा कुछ ध्यान में तो लाएँ। कुटुम्ब का समागम हो वहाँ भी यह सुखी नहीं रहता है; धन का, वैभव का समागम हो वहाँ भी यह सुखी नहीं रहता है, बहुत से मनुष्यों के समुदाय में रहता हो वहाँ भी यह जीव सुखी नहीं रहता है, कौनसा समागम इस जीव को सुख का कारण है? यह सारा संसार दुःखरूप है। इस संसार के कारणभूत ये पुण्य-पाप कर्म हैं उनको जो योगीश्वर त्यागते हैं, उनके नित्य ही सामायिक व्रत होता है।

ज्ञानी का एक ही निर्णय और कर्तव्य- सम्यग्दृष्टि पुरुष जब अपने आपके प्रदेशों में से शुद्ध तत्त्व की दृष्टि के बल से पुण्य-पाप विकारों को निकाल देता है और ज्ञानानन्दस्वरूप शुद्ध चैतन्यस्वरूप निज शुद्ध जीवास्तिकाय में उपयोग लगाता है इस ही शुद्ध जीवास्तिकाय में अपने उपयोग का विहार कराता है वह पुरुष तीन लोक के जीवों से पूजित अरहंत प्रभु हो जाता है। अपने जीवन में केवल एक ही निर्णय रखो, जब कोई कहे कि बोलो क्या करना है? तो उत्तर आना चाहिए कि मुझे निज शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप का दर्शन करना है। ये बाहरी कार्य होना हो तो हो और न होना हो तो न हो, सभी तो एक दिन छूटेंगे। उनके विकल्प में कौनसा लाभ मिलेगा? क्या करना है, इसका पूरा निर्णय रखिए। मुझे सहजस्वरूप का दर्शन करना है और कुछ वान्छा नहीं है। यह तत्त्वज्ञान, अंतस्तत्त्व का दर्शन, पुण्यपापरूप वन को भस्म कर देने में दावानल के समान है और संसार संताप को बुझा देने में यह शीतल मेघ की तरह है। इस मेरे सहजस्वरूप के आलम्बन से ही सारे संकट दूर होंगे। यहां किसी को शरण मानना बेकार बात है, ज्ञानीसंत अपने आपके परमशरण, परमरक्षक अंतस्तत्त्व का आश्रय ले रहा है।

शुद्ध स्वरूप के निरखने में जीव का उद्धार- यह संसार का कामी पुरुष पापकर्म के उदय के वश होता हुआ इस संसार वन में भटक रहा है। यह मानो इस संसृतिरूप कुटिला का वरण कर रहा है, यह कर्मजनक सुख को उत्पन्न करने के लिए आकुल, व्याकुल होकर अपना जीवन खो रहा है। अरे ! यह कभी भी अपने आपके स्वरूप की संभाल का यत्न कर ले तो इसके भव्यता का विकास होगा और यह शीघ्र संसार के समस्त संकटों से छूटकर शाश्वत मुक्ति सुख को प्राप्त कर लेगा। एक बार इस शुद्ध स्वरूप का शुद्ध विकास होना चाहिए फिर यह त्रिकाल भी मलिन नहीं हो सकता, संसार के संकट प्राप्त नहीं हो सकते। एक मुक्ति का ही सुख अनुपम है और परिपूर्ण है जिसकी सानी का उदाहरण देने को अन्य कुछ भाव नहीं हैं। यह सबसे विमुक्त केवल ज्ञानानन्दस्वरूप के विकास में तृप्त रहकर आनन्द भोगता रहता है। सिद्ध होने के बाद फिर यह आत्मा कभी भी इस संसार में भ्रमण नहीं करता है। सबसे बड़ा काम

पड़ा है हम आपके, अपने आपके सहजस्वभाव का आश्रय लेना, सबको असार जानकर ऐसा निर्मल ज्ञानप्रकाश बढ़ावे कि किसी परद्रव्य में अपना अनुराग न रहे।

सहजस्वभाव के आश्रय में आविर्मृत सहजविश्राम के प्रसाद से उत्पन्न अविकारभाव में परमसमाधि- इस परमसमाधि अधिकार में यह प्रतिपादन किया जा रहा है कि मुक्ति के अपूर्व आनन्द को पाने में प्रधान साधन परमसमाधिभाव ही है। जिस उपाय से आत्मा में समता प्रकट हो उस उपाय को करना ज्ञानी संतों का कर्तव्य है और वह उपाय सुगम भाषा में सीधा यह है कि समस्त परपदार्थों को भिन्न जानकर, स्वतंत्र जानकर, उनसे मेरे में कुछ भी सुधार अथवा बिगाड नहीं है, ऐसी स्थिति समझकर एक बार तो समस्त परपदार्थों को उपयोग से हटावो और अपने सहज स्वरूप में अनुपम विश्राम लो। इस सहज विश्राम के प्रताप से अपने आपमें शुद्ध ज्ञान का अनुभव होगा, जहाँ रागद्वेष, सुख-दुःख, शुभ-अशुभ परिणाम किसी प्रकार का विकार नहीं है, उस ज्ञानप्रकाश में ही परमसमता प्रकट होती है। जो योगीश्वर इस परमज्ञानप्रकाश में वार्ता करते हैं वे धन्य हैं, उनको हमारा ज्ञानपूर्वक वन्दन हो।

गाथा 131,132

जो हु हस्सं रदिं सोगं अरदिं वज्जेदि णिच्चसा।

तस्स सामाइगं ठाई इदि केवलिसासणे ॥131॥

जो हुमुच्छा भयं वेदं सव्वं वज्जेदि णिच्चसा।

तस्स सामाइगं ठाई इदि केवलिसासणे ॥132॥

जो पुरुष हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, वेद सब नोकषायों को त्यागता है उसके सामायिक परिणाम स्थायी होता है, ऐसा केवली भगवान के शासन में कहा है।

नोकषायों का प्रवर्तन- संसारी जीवों की प्रवृत्ति नो कषायरूप हो रही है। चारित्रमोह के भेद में 16 तो कषायें हैं और नव नोकषायें हैं, उनमें प्रवृत्ति नोकषायों से होती है और उन नोकषायों में स्पीड देने वाली 16 प्रकार की कषायें हैं। जैसे थोड़ी देर को समझलो कि काम में आते हैं बल्ब और उन बल्बों में प्रभाव थोड़ा मिलना, बड़ा मिलना, यह डालता है करेन्ट। तो 16 कषायें तो करेन्ट जैसा काम करती हैं और ये नोकषायें मानों बल्ब, अँगीठी जैसा काम करती हैं। प्रवृत्ति में ये हास्यादिक आती हैं। अनन्तानुबंधी कषाय हुई तो हास्य रति आदिक में इस प्रकार का असर हुआ। अप्रत्याख्यानावरण कषाय में हास्यादिक तो और तरह के होते हैं, प्रत्याख्यानावरण में हास्यादिक और किस्म के होते हैं और संज्वलन में ये अत्यन्त मंद होते हैं। ज्ञानी पुरुष इन 9 कषायों की प्रवृत्ति से दूर रहते हैं। इन 9 कषायों के विजय के उपायों से सामायिक चारित्र का स्वरूप प्राप्त होता है।

नोकषायों में कषायों के अनुकूल तीव्रता व मन्दता- इन हास्यादिकों का नाम यद्यपि नोकषाय है। नो का अर्थ है थोड़ा। यहाँ नो का अर्थ संख्या के 9 से नहीं लेना। नो शब्द संस्कृत का शब्द है और ईषत् अर्थ में आता है। नोकषाय में यदि कषायों के पुट ल मिलें तो इनमें कुछ दम नहीं रहती है। जैसे बल्ब को जो चाहे छू ले, उसमें क्या दम है? पर करेन्ट से जुड़ जाय तो उस ही बल्ब में तेज का असर हो जाता है, इस प्रकार इन नोकषायों के साथ कषायें जुड़ी हुई रहती हैं, ऐसा कहीं नहीं होता कि नोकषाय तो रही आए और कषाय न रहे, नोकषाय का असर रहे और कषाय रंच भी न हो ऐसा कोई जीव न मिलेगा। यह तो सम्भव है कि नोकषाय जरा भी नहीं है और कषाय का संक्लेश बना है। जैसे नवम गुणस्थान और दशम गुणस्थान में वहाँ हास्यादिक नोकषायें नहीं हैं, किंतु संज्वलन, क्रोध, मान, माया, लोभ बने हुए हैं। 9वेंगुणस्थान में हास्यादिक छः नोकषाय रंच नहीं हैं। हास्यादिक 6 नोकषाय का उदय-विच्छेद अष्टम गुणस्थान में हो जाता है और ये कषायें रही आती हैं। नोकषाय में 6 कषायें तो हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा- ये अष्टम गुणस्थान के अंत तक ही रहते हैं। पुरुष वेद, स्त्री वेद, नपुंसक वेद ये 9वें गुणस्थान के कुछ भाग तक चलती है और संज्वलन क्रोध वेद के उदयविच्छेद के बाद कुछ समय तक रहता है और वेद के उदयविच्छेद के बाद और देर तक मायने उससे भी अधिक देर तक मान और उससे भी अधिक देर तक माया व उससे भी अधिक देर तक लोभ रहता है। नोकषाय के बिना कषाय बेकार हैं और कषाय के बिना नोकषाय बेकार है।

कषायों की अहितकारिता- ये समस्त कषायें जीव को मोहित करती हैं, मोह उसे कहते हैं जिसके करते हुए भला लगे, किन्तु परिणाम बरबादी का निकले, उसका नाम मोह है। मोह करते हुए भला लगे और परिणाम बरबादी का न हो उसे धर्मानुराग कहते हैं। वह मोह नहीं है, कषाय नहीं है। मोह में परिणाम बुरा निकलता है और वर्तमान में भला जँचता है। जैसे गृहस्थी के अनुभव में ही देख लो, स्त्री का स्नेह कितना भला लगता है, परन्तु उसके परिणाम में 18-20 वर्ष के बाद जो बीतती है सो गृहस्थ जानते हैं। संतान हो गई, बच्चे हो गये, अब उनकी शादी करना है और खर्चे बढ़ गये हैं और यह ही दुःख रहे तो भी कुछ अधिक हानि नहीं, लेकिन ये सब क्या अनुकूल चलते हैं? कोई प्रतिकूल चलते हैं, उनकी इस अनुकूलता और प्रतिकूलता को देखकर अज्ञानवश जो अंतरंग में क्लेश होता है उसे कौन मिटाने आए?

अज्ञान का क्लेश- भैया ! सबसे बड़ा क्लेश बेवकूफी का है, आवश्यकता की आपूर्ति का नहीं है। जब कीड़ा-मकोड़ा भी अपना पेट किसी तरह से भर लेते हैं तो मनुष्य को अपना पेट भर लेने में कौनसा कठिन काम है? जो घास है, जिसे गाय, बैल, भैंस खाते हैं उसको ही हँसिया से महीन बनाकर छौंक दीजिए, नमक, मिर्च डाल दीजिए तो उससे भी पेट भरा जा सकता है, किन्तु क्लेश है अज्ञान का। कल रास्ते में आ रहे थे देखा कि बहुत सी सफेद रेत पड़ी है, उसको ही बटोर-बटोर कर कोई बेचे तो उससे भी पेट भरा जा सकता है, पर रेत बटोरना, इतना श्रम करना, अपनी पोजीशन घटाना ये किसे पसंद है?

बहुतसी कमजोर बुढ़िया छोटी-छोटी घास को खोदकर दिन भर में एक गट्टा तैयार कर लेती हैं और आजकल के समय में वह डेढ़ रूपये के करीब का होता है, उसको ही बेचकर अपना पेट भरती हैं। जिस कर्म के उदयवश हम आपने यह शरीर पाया है और इतना ऊँचा शरीर पाया है तो क्या पेट की पूर्ति के लायक कर्म न होगा?

निर्मोहता की संभाल में क्लेश का विच्छेद- अपन लोग आवश्यकता की पूर्ति से दुःखी नहीं हैं, किन्तु मानसिक व्यथा से दुःखी हैं। लोक में मेरी पैठ, मेरा सम्मान कुछ अधिक होना चाहिए, ऐसी जो अन्तरंग में भावना बसी है यह दुःख देती है। बहिर्मुखदृष्टि से बढ़कर कोई अपराध नहीं है। इतने विकट तो हम कसूर वाले हैं और चाहते हैं हम लोक में उत्तम अग्रणी कहलाना तो कसूर करके लोक में अग्रणी कहलाएँ यह अपनी एक धूर्तता है। पहिले तो थी बेवकूफी और अब यह है धूर्तता। जहाँ बेवकूफी और धूर्तता दोनों मिल जाये वहाँ आराम की आशा कहाँ रक्खी जा सकती है? यह समस्त जगत मोहनीय कर्मों के उदय से अथवा मोहभाव के अविर्भाव से परेशान है। अपने आपको संभाल लो तो कहीं परेशानी नहीं है। अरे ! कैसे संभाल लें? गृहस्थी तो अभी कच्ची है। यही तो बेहोशी है। पुराणों में लिखा है कि सुकौशल के जब ज्ञान जागृत हुआ तो यह नहीं देखा कि अभी गृहस्थी कच्ची है, गर्भ में बच्चा है दुनिया के लोग बच्चों को तरसते हैं, हम भी बच्चे का मुँह देख लें, ऐसा सुकौशल ने कुछ न सोचा था। अरे ! जहाँ ज्ञान जग गया वहाँ फिर क्लेश भी कुछ नहीं है।

साधनसमागम की उदयानुसारिता- भैया ! जिसका जैसा उदय है उसके अनुसार उसकी आजीविका का साधन मिल जाता है। कोई-कोई पुरुष ऐसे हीन पुण्य के होते हैं कि घर में रहने वाला बड़ा पुरखा या बड़ा भाई जो घर में बड़ा है कहो उसके रहने के कारण घर के छोटे भाई का, बच्चों का पुण्य विशद प्रकट न हो और यह घर का बड़ा, पुरखा मानता है कि मैं घर छोड़ दूँ तो घर के लोग बरबाद हो जायेंगे। सम्भव है कि वह घर छोड़ दे तो उन लोगों का पुण्य विशद प्रकट हो जाये और वे सुखी हो जाएँ, यह भी सम्भव है और यह भी सम्भव है कि बड़ा छोड़ दे तो घर के लोग बरबाद हो जाएँ, लेकिन कोई बरबादी हो जाय तो, आबादी हो जाय तो उसमें कारण उनका खुद-खुद का कर्म का उदय है, कोई किसी दूसरे जीव की जिम्मेदारी का कर्ता-धर्ता नहीं होता।

साधनसमागम की उदयानुसारिता पर एक दृष्टान्त- एक कोई जोशी था। उसका काम था रोज रोज इधर-उधर से आटा-दाल मांगकर लाना और बच्चों को पालना। रोज 10, 11 बजे मांगकर लाता था तब रोटियाँ बनती थी । एक दिन एक घर आटा दाल मांग रहा था, एक साधुजी निकले, साधु ने पूछा- क्या कर रहे हो? तो जोशी बोला कि आटा-दाल मांगकर ले जायेंगे तो बच्चों का पेट पलेगा। साधु बोला कि तुम इस चिन्ता को छोड़ दो और 15 दिन के लिये मेरे साथ चलो, धर्मध्यान में रहो। उसे ऐसी ही बुद्धि आयी कि झोली फैंक फांक कर साधु के संग चला गया। अब-जब 10, 11 बजे तक वह मांगकर घर न

आया तो उसकी स्त्री, बच्चे सब रोने लगे। पड़ोस के लोग जुड़ आए, किसी मसखरे ने यह कह दिया कि उसको एक व्याघ्र पकड़ कर ले गया और मारकर खा गया। अब लोग सोचते हैं कि वह तो मर गया है और ये अपने पड़ोस में हैं, छोटे-छोटे बच्चे हैं, यह तो भूखे न रहने चाहिए। सो किसी ने तीन-चार बोरा गेहूं दे दिया, किसी ने घी की टिन, किसी ने तेल की टिन दे दिया, किसी ने कपड़े के कुछ थान दे दिए, क्योंकि लोगों ने सोचा कि कम से कम 1 साल का बन्दोबस्त तो कर ही दें। अब घर के सब खुश होकर मौज करें।

अनावश्यक की पूंछ का अभाव- अब वह जोशी 15 दिन हो गए तो साधु से बोला- महाराज ! अब जाकर घर देख आएँ, कौन बच्चा मरा है, कौन जिन्दा है? तो साधु बोला – अच्छा देख आओ, पर छुपकर जाना और पहिले निगरानी कर लेना कि घर में क्या हो रहा है? कहा- अच्छा महाराज ! सो अपने छत पर पीछे से चढ़ गया और एक ओर से देखने लगा तो वहां कड़ाही चढ़ी हुई थी, मंगौड़ी-पकौड़ी बन रही थी, बच्चे नये नये कपड़े पहिने हुए खेल रहे हैं, खूब आराम से हैं। वह जोशी देखकर खुश हो गया और मारे खुशी के सबसे मिलने के लिये अपने घर में कूद गया। बच्चों ने देखा तो सोचा कि वह तो मर गया था। यह तो भूत है, सो लूगर वगैरह उठाकर उसे सब मारने दौड़े। वह जोशी अपनी जान बचाकर साधु के पास पहुंचा, बोला- महाराज ! वहाँ तो सब ठीक है, पर मुझे सब मारने दौड़े, सो जान बचाकर भाग आया हूँ। साधु बोला कि जब सब मजे में हैं तो तुझे कौन पूछे? तू तो धर्मध्यान कर। सबके साथ अपना-अपना उदय है।

मोह के बोझ का क्लेश- भैया ! सभी जीव अपने-अपने उदय के द्वारा अपना-अपना गुजारा करते हैं। अपने चित्त में किसी का जिम्मेदार समझना यह एक अज्ञान का बोझ है। क्यों न इतनी हिम्मत करें कि कुछ भी हो जाय तो भी मैं आत्मा अमूर्त निरापद हूँ। क्या होगा? ज्यादा से ज्यादा जो अनिष्ट माने जा सकते हैं उन सब अनिष्टों की कल्पना कर डालें, इतना तक भी हो जाय तो भी मेरे आत्मा का क्या नुकसान है? यह तो ज्ञान के बल पर सुखी होता है; धन, वैभव के बल पर नहीं, धन, वैभव होने पर भी ज्ञान उल्टा है, कुबुद्धि है, कुमति है, तो झगड़ा है, विवाद है, परेशानी है, कुछ तत्त्व न मिलेगा और सुमति है, बुद्धि ठिकाने है तो दरिद्रता भी आ जाय तो भी अन्तर में प्रसन्न रह सकता है। जितने भी क्लेश हैं वे सब मोह के कारण भोगने पड़ रहे हैं। इस मोह के परिणाम में जीव में 9 तरह की प्रवृत्तियां होती हैं, उन्हीं प्रवृत्तियों का नाम है नोकषाय।

हास्य नामक कषाय- अपने आपको भला मानने वाले लोगों से श्रेष्ठ समझने वाले मूढ़ जन दूसरे जीवों की प्रवृत्ति को देखकर हास्य करते हैं, मजाक करते हैं। हास्य दूसरे को तुच्छ माने बिना कैसे की जा सकती है? इस हास्य की प्रवृत्ति में यह जीव स्वरूप से च्युति किये है और इस आत्मच्युति की दशा में यह जीव हास्य की प्रवृत्ति करके अपने आपको रीता बना रहा है। जब कभी तेज हँसी आती है तो अपना

पेट रीता सा हो जाता है, कुछ हल्कापन आ जाता है। तो जैसे हास्य का प्रभाव शरीर को रीता कर देने में होता है। उस हास्य से आत्मा भी गुणों से रीता हो जाता है। दूसरे पुरुष का क्या मजाक करना? खुद ही तो मजाक के लायक हैं। उस हास्यकर्म के उदय में, हास्यभाव की पीड़ा में इस जीव के समतापरिणाम हो ही नहीं सकता और समता-परिणाम के बिना यह जीव संसार में क्लेश भोगता रहता है। अनन्तानुबंधी की पुट ले तो यह हास्य कठिन करता है और जैसे-जैसे पुट कम हो वैसे ही वैसे हास्य मन्द होता जाता है।

रति नोकषाय व नोकषायों में कषायों का प्रभाव- रति कषाय उसे कहते हैं कि उत्कृष्ट वस्तु को निरखकर उसमें प्रीति का परिणाम हो। देखिये प्रवृत्ति हो रही है नोकषाय के द्वारा और इसमें प्रभाव भरा गया है कषाय के द्वारा, तो शंका यह हो सकती है कि प्रभाव भरने वाली कषायें भले ही चार प्रकार की हों- अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन, पर उनमें क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार भेद क्यों हो गये? जब प्रवृत्ति हास्यादिक हो रही है तो होने दो। बात वहां यह है कि जैसे बिजलियों के करेन्ट में भी एक प्रकार का तार नहीं रहता, दो तीन प्रकार के तारों का बंधन रहता है, ऐसे ही ये यद्यपि सामान्यतया कषाय हैं, लेकिन इनमें भी विभिन्नता है और प्रायः उन करेन्टों के स्पर्श से इन नोकषायों में दो भाग हो गए हैं। कुछ कषाय हैं रागरूप जो माया और लोभ के प्रभाव से प्रभावित हैं और कुछ कषाय हैं द्वेषरूप, जो क्रोध और मान के प्रभाव से प्रभावित हैं। मायामयी प्रवृत्ति एक तार से नहीं चल सकती है। जैसे हम आपके खून की गति न केवल लाल खून से चलती है, न केवल सफेद खून से चलती है। लाल और सफेद दोनों प्रकार के खून इस शरीर के साथ बँध जाते हैं। सफेद खून में तो कीटाणुओं के नाश करने की सामर्थ्य है और इस लाल खून में एक तेज देने की ताकत है और इन दोनों से फिर यह शरीर की गति चलती है। इस रागद्वेष की प्रवृत्ति में राग भी केवल राग रहकर नहीं चलता है, वह भी किसी न किसी ढंग में द्वेष को अन्तर्निहित करके चलता है और इसी प्रकार द्वेष भी केवल द्वेष बनकर नहीं चलता है वह भी किसी ढंग में राग को अन्तर्निहित करके चलता है। कैसा जालग्रस्त है यह, कितनी विडम्बनाएँ इन कषायों में पायी जाती हैं?

मोह, राग, द्वेष से संकट की उत्पत्ति का एक दृष्टान्त- हाथी को वश में करने वाले शिकारी जंगल में एक गड्ढा खोदते हैं और उस पर बांस की पंचें बिछाकर पाट देते हैं, उस पर कागज की झूठमूठ हथिनी बनाते हैं और दूर में एक दौड़ता हुआ हाथी बनाते हैं। उस हथिनी से राग करके बनहस्ती दौड़ता हुआ उसके पास आता है और सामने आते हुए दूसरे हाथी को देखकर उससे पहिले पहुंचना चाहता है। वह यह नहीं जान पाता कि यह जमीन बनावटी है, सो उस पर आते ही वह गड्ढे में नीचे चला जाता है। तो ये राग और मोह दो आ गये। वह हाथी खूब तेजी से दौड़ता हुआ आता है इसलिए कि उस दौड़ते हुए हाथी

से जल्दी उस हथिनी के पास पहुंचना है, तो यह द्वेष हो गया। यों उस हाथी के गिराने में अज्ञान, राग और द्वेष तीनों मदद कर रहे हैं।

मोह, राग, द्वेष का पारस्परिक सहयोग- मोह, राग और द्वेष- इन तीनों में एक जिगरी दोस्ती सी है। एक के बिना शेष दो व्याकुल हो जाते हैं। मोह न रहे तो राग द्वेष अपने प्राण खो देते हैं, राग द्वेष मंद हो जाएँ तो मोह को अपनी जान बचाना मुश्किल हो जाता है। ये तीनों एक दूसरे के अनुग्रह पर जीवित रहा करते हैं। यह रति नामक कषाय इष्ट पदार्थ में प्रीति करने वाली है। ये हास्य और रति दोनों रागभाव हैं। इन विकल्पजालों का जो परित्याग करता है उसके समता प्रकट होती है।

नोकषायों में अरति व शोक का स्थान- यह परमसमाधि अधिकार है। इस अधिकार में पूर्व गाथाओं में अब तक परमसमाधि के पात्र की विशेषताएँ बताते जा रहे हैं और इन दो गाथाओं में यह कहा जा रहा है के जो हास्यादिक 9 प्रवृत्तियों को नित्य ही त्यागते हैं, निरन्तर त्यागे रहते हैं उनके परमसमाधि प्रकट होती है। हास्य और रति ये दोनों राग भाव हैं, इनके विपरीत जो प्रवृत्ति है वह है- शोक और अरति। जहाँ हास्य नहीं है वहाँ शोक है। किसी अनिष्ट प्रसंग में चिन्तातुर हो जाना, शोकमग्न हो जाना, यह शोकभरी प्रवृत्ति है। कुछ बाहर की ओर मुड़ने पर ही यह नोकषाय प्रवृत्ति हुई है। रागभरे भावों से जब बाहर की ओर मुड़े तो हास्य आये और द्वेष भरे भावों से जब बाहर की ओर मुड़े तो शोक आये। इन दोनों ही दशाओं में मूल एक पर्याय की पकड़ है। चाहे कोई जीव हास्य में मग्न हो अथवा शोक में मग्न हो, मूल में अपराध दोनों में एक है, वह है अपनी पर्याय में आत्मीयता की कल्पना करने का।

विषमता के परिहार में समाधिभाव का आविर्भाव- यों यह जीव शोक के वश में होकर अपने को विषमता में ला देता है। जो परम जिन योगीश्वर इस शोक को दूर करते हैं उनके ही परमसमाधि प्रकट होती है, ऐसे ही यह अरति परिणाम है, अनिष्ट पदार्थों को निरखकर अप्रीति का भाव होना सो अरति है। यह प्रायः क्रोध और मानकषाय के संस्कार में प्रकट होता है। जगत के सभी जीव अपनी ही तरह एक स्वरूप के हैं, फिर भी इन अनन्त जीवों में से दो-चार को अपना मानकर उनमें हास्य रति की प्रवृत्ति करना और बाकी को गैर मानकर उनके प्रति अरति और शोक जैसी प्रवृत्ति रखना, यह अज्ञानभरा आशय है और जब तक यह आशय है तब तक संकट नहीं छूट सकते हैं। जो जीव हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा इनको निरन्तर त्यागते हैं, उनके ही परमसमाधि होती है। परमसमाधि में ही परमसमाधि है ,विषमता में नहीं है।

ग्लानिभाव में समता का अभाव- जुगुप्सा ग्लानिपरिणाम को कहते हैं। जो मनुष्य थोड़ी-थोड़ी बात में भी ग्लानि करता है उसके समतापरिणाम की कैसे सम्भावना हो सकती है? आत्मस्वरूप में स्थिरता की कोई बात चाहिए और उसे परपदार्थ साधारण-साधारणसी दशा में भी अनिष्ट जँचने लगे तो समता कैसे आ

सकती है? ग्लानिपरिणाम, द्वेषपरिणाम आए बिना नहीं होता है। द्वेष चेतन में भी होता है और अचेतन के विषयों में भी होता है।

अचेतनविषयक ग्लानि- कहीं गन्दी जमीन है अथवा हड्डी थूक आदिक पड़ा हुआ है, मलमूत्र पड़ा है वहां भी जो भीतर में घृणा का परिणाम उठता है वह परिणाम भी वास्तव में कुछ द्वेष हुआ तब उठता है जब द्वेष परिणाम परिणत में हुआ करता है। उसे जो कुछ अनिष्ट होगा उसही में द्वेष होता है। इस जीव को शौक श्रृंगार प्रिय है, शौक शान वाला है, अपनी बड़ी महत्ता समझता है, झूठा बड़प्पन मानता है, अपने शरीर को बहुत ही स्वरूपवान् और सब कुछ समझता है। उसे जब ये अन्य चीजें दिखती हैं तो घृणा आने लगती है। जिसकी प्रकृति घृणा करते रहने की बने उसके समता कैसे विराजेगी?

अन्य चेतनविषयक ग्लानि- इसी प्रकार दूसरे प्राणियों में, मनुष्यों में घृणा का परिणाम रक्खे तो समता कहां ठहरेगी? दुराचारी नीच पुरुषों का संग इसलिये दूर रक्खा जाता है कि कहीं उसके दुराचरण का प्रभाव मेरे ऊपर न आए। अपने को सुरक्षित रखने के लिए उनसे बचा जाता है, पर कोई उनसे अन्तर में घृणा का भाव करे, उनसे द्वेष करने लगे तो यह जुगुप्सा है, यह हितकारी भाव नहीं है। अपनी रक्षा के लिए दूर रहना यह घृणा में शामिल नहीं है, किन्तु रक्षा का तो जहां ध्यान नहीं है, अपने पर्याय को बहुत आदर्श और महत्त्वपूर्ण मानता है, लोक में श्रेष्ठ समझता है और इस ही बात पर अन्य पुरुषों से घृणा करता है तो वह घृणा है, पाप है और इससे आगे चलो तो अपने समान कुल वाले उच्च पुरुषों में भी अपनी पर्यायबुद्धि के संस्कारवश अपने को बड़ा समझकर दूसरों को जो तुच्छ, मन्दबुद्धि मानता है वह भी जुगुप्सा का पाप कर रहा है। ऐसे पुरुषों में समतापरिणाम कहां विराज सकता है? जो जुगुप्सा परिणाम से रहित है उसके ही समतापरिणाम हो सकता है।

विभावविचिकित्सा- अच्छा और आगे चलिये- अपने आपमें जो विपरीत वृत्तियां उठती हैं, जो अपना स्वभाव नहीं है ऐसे विकार, ऐसी वेदनाएँ जो उत्पन्न होती हैं, स्नेह हुआ, द्वेष हुआ, क्षुधा हुई, तृषा हुई आदिक परिणाम होते हैं उन वेदनावों में ग्लानि करना याने दुःखी होना, कायरता आ जाना, जुगुप्सा का परिणाम बनना, ये वृत्तियां अगर चलती हैं तो वहां समता कहां विराज सकती है और इससे भी आगे देखो कि इस जुगुप्सावान् पुरुष ने किसी परपदार्थ पर घृणा नहीं की, किन्तु अपने आपके प्रभु से ही घृणा की है। जो अपने परमात्मा से घृणा करे उसके लिए उसकी रक्षा का ठिकाना कहां रह सकता है? जो पुरुष जुगुप्सा का परित्याग करता है उसके ही समाधिभाव स्थायी है, ऐसा केवली भगवान के शासन में कहा गया है।

भय में समता का अभाव- जैसे जुगुप्साभाव इस जीव का अहितकारी परिणाम है, इसी प्रकार भय का परिणाम भी जीव का अहित करता है। यह संसारी प्राणी अपनी निधि आनन्दस्वरूप का परिचय नहीं पा रहा है, इस कारण छोटी-छोटी घटनाओं के प्रसंग में भी यह भय किया करता है। सबसे बड़ा भय इसको

यह होता है कि कहीं मैं मिट न जाऊँ। कहीं तो यह मरने को मिटना समझता है और कहीं अपनी धन-सम्पदाओं में भंग पड़ने को मिटना समझता है। जहां भय है वहां न धैर्य है और न समता है। भय के मूलकारण दो होते हैं- एक तो धन से मोह होना और दूसरा जीवन से मोह होना। जिस पुरुष को न धन से मोह है, न जीवन से मोह है उसको भय कहां से आयेगा? ज्ञानी पुरुष जानता है कि यह धन क्या वस्तु है? अनेक परमाणुओं का मिलकर एक स्कंध बन गया है और इस स्कंध को लोग धन कहा करते हैं, यह धन मायास्वरूप है, मिट जाने वाला है, मेरे से भिन्न है, इसके परिणामन से मेरे में कुछ सुधार अथवा बिगाड नहीं आता है, ऐसा यह ज्ञानी पुरुष निरख रहा है, इसके धन में मोह का परिणाम नहीं होता है।

ज्ञानी का निरापद ज्ञान- धन्य है वह ज्ञानी का ज्ञान जिस ज्ञानप्रकाश में अपना केवल ज्ञानप्रकाश ही नजर आ रहा है और इस परिज्ञान के कारण उसके चित्त में किसी भी प्रकार की विह्वलता नहीं होती है। धन बिगड़ता है तो वह मायास्वरूप है, उससे इस ज्ञानपुञ्ज आत्मतत्त्व की कुछ हानि नहीं है। यश बिगड़ता है तो वह मायामय पुरुषों के हृदय की चीज है, मेरा कुछ नहीं है। उसमें मेरा कुछ बिगाड़ नहीं है। जीवन बिगड़ता है तो यह एक पुराने घर को छोड़कर नये घर में जाने का उद्यम है। इससे भी मेरा कुछ बिगाड़ नहीं है, ऐसे यथार्थस्वरूप के परिचय के कारण जो पुरुष साहसवंत होते हैं उन पुरुषों के ही सामायिकव्रत स्थायी हो सकता है।

भय की कल्पनावों के रूपक- कल्पना ही भय का मूल आधार है। जीव तो निःशंक ज्ञानानन्दस्वरूप मात्र है। इस अन्तस्तत्त्व में जिसका उपयोग जाय उसको किसी भी प्रकार का संकट और भय नहीं रहता है, भय तो कल्पना से उत्पन्न किया जाता है। भय को जो ज्ञानी पुरुष छोड़ देता है उसके ही यह सामायिक व्रत स्थायी होता है। भयों की जाति मूल में 7 प्रकार की कही गयी है—इहलोकभय, परलोकभय, वेदनाभय, अत्राणभय, अगुप्तिभय, मरणभय व आकस्मिकभय। मेरी आजीविका न बिगड़ जाय, मेरी परभव में दुर्गति न हो जाय, रोगादिक की पीड़ा न हो जाय, मेरा कोई रक्षक नहीं है क्या होगा? मेरा घर टूट नहीं है, मेरी कैसे रक्षा होगी? मेरा मरण न हो जाय, कहीं अचानक कोई संकट न बन जाय, वे सब भयों के रूपक हैं। भय का विनाश होने पर ही समताभाव ठहर सकता है।

ऐहिक भय- किसी को इसी जीवन में आजीविका का विकट भय लगा है, कहीं मेरी आजीविका नष्ट न हो जाय, फिर मेरा क्या हाल होगा, मैं रहूँगा अथवा नहीं, इस भयशील अज्ञानी पुरुष को यह विश्वास नहीं है कि मैं आत्मा सत् हूँ, सत् का कभी विनाश नहीं होता है। इस आत्मा को यह खबर नहीं है कि पुण्य-पाप कर्म सभी इस संसारी जीव के साथ लगे हैं, उनके अनुकूल जीवों के सुख-दुःख होते हैं। बाहरी साधनों को जुटाकर क्या मैं कर्म बदल लूँगा? कर्मपरिवर्तन होता है तो आत्मा की विशुद्धि का निमित्त पाकर होता है। यह मोही जीव बहिर्मुखदृष्टि करके बाह्यपदार्थों को जोड़कर अपनाकर अपना भविष्य उज्ज्वल बनाना चाहता है, पर ज्यों-ज्यों यह बाह्य प्रसंगों में भिड़ता जाता है त्यों-त्यों भय के साधन बढ़ते

जाते हैं। जो पुरुष भय नामक नोकषाय का सर्वथा त्याग कर देते हैं उनके ही सामायिक व्रत स्थायी हो सकता है।

वेद नोकषाय की विडम्बना- इन नोकषायों में बहुत विकट प्रवृत्ति है वेद की। स्त्री वेद, पुरुष वेद और नपुंसक वेद- इन वेदभावों में कामविषयक, मैथुनविषयक प्रवृत्ति और अभिलाषा रहती है। जो जीव काम प्रवृत्ति के भी योग्य नहीं हैं। नपुंसक हैं ऐसे जीवों के भी यह कामविषयक पीड़ा रहती है। जो जीव पंचेन्द्रिय भी नहीं है, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय अथवा चार इन्द्रिय हैं उनमें भी यह कामव्यथा पायी जाती है, वे भी जीव हैं। परिणाम उनका उनके साथ है। किसी की अंतः पीड़ा को हम आप कैसे जाने? अन्य की तो बात जाने दो, जो एकेन्द्रिय जीव हैं, जो खड़े रहते हैं, जिनके कुछ उद्योग भी नहीं है ऐसे जीवों में भी वेद व्यथा पायी जाती है। कितना यह विडम्बित लोक है?

वेदवृत्ति में समता की असंभावना- स्त्रीवेद के उदय में स्त्री को पुरुषविषयक अभिलाषा और पुरुषवेद के उदय में पुरुष को स्त्रीविषयक अभिलाषा हुआ करती है परन्तु विडम्बना तो देखा, यदि पुरुष के भी स्त्रीवेद का उदय आ जाय तो शरीर से यद्यपि वह पुरुष है तो भी स्त्री के समान अपने परिणाम मलिन बनायेगा। स्त्री शरीर वाले जीव के यदि पुरुषवेद का उदय आ जाय तो वह स्त्री भी पुरुष की तरह अपने परिणाम बनायेगी। ये कितनी विपरीत वृत्तियां हैं? कहां तो यह आत्मा स्वतंत्र, निश्चल, निष्काम मात्र ज्ञातादृष्टा रहने का विरद वाला है और कहाँ उसकी इतनी मलिन प्रवृत्ति जग गयी है। जो जीव इन वेद नोकषायों के सताये हुए हैं उनके समाधिभाव प्रकट नहीं हो सकता है।

विषयप्रसंग की अहितकारिता- इन नोकषायों से जिनका आत्मा कलंकित है, जिस कीचड़ में सब प्रकार के विकार पनपा करते हैं उन समस्त विकारों के मूल मोहभाव को जो परमतपस्वी त्याग देता है, उसके यह परमसमाधि प्रकट होती है। जीव को पारमार्थिक आनन्द समाधिभाव में ही मिलता है। समाधिभाव से उल्टा परिणाम है विषम प्रसंग। 5 इन्द्रियां और एक मन, इन 6 के विषयों से दूर होने पर ही समाधिभाव प्रकट होता है। इन विषय प्रसंगों में कदाचित् काल्पनिक सुख मिल जाता है परन्तु वह सुख भी दुःख से भरा हुआ है, वहां भी आकुलता मची हुई है। इन नोकषायों से कलंकित समस्त विकारजालों को जो पुरुष दूर कर देता है उसके ही परमसमाधि का आनन्द प्रकट होता है।

योगी की निश्चयरत्नत्रयात्मकता- यह परमतपस्वी निश्चयरत्नत्रयात्मक है। जैसे किसी पुरुष को निरख कर लोग नाना रूपों में पकड़ते हैं, यह पुरुष क्रोधी है, यह पुरुष मायावी है, यह लोभी है आदि। तो ये मोक्षमार्ग के प्रमुख नेता, प्रमुख पथगामी योगीश्वर कैसे हैं? इसका उत्तर इतना ही जानो कि ये निश्चयरत्नत्रयात्मक हैं। आत्मा का जो सहजस्वरूप है उसका यथार्थ श्रद्धान और उसका यथार्थ ज्ञान और उसमें ही आत्मरमण बना रहना, ऐसा जो तीनों परिणमनों का एकत्व है, जिसको किसी एक शब्द से भी नहीं कहा जा सकता है, ऐसे पवित्र रत्नत्रयस्वरूप ये योगीश्वर हैं, ये रत्नत्रयात्मक योगीश्वर इन

विकल्पजालों को परमसमाधि के बल से त्यागते हैं और इन ही रत्नत्रयात्मक संन्यासी जनों के यह सामायिक नाम का व्रत शाश्वत रहा करता है, यह केवली भगवान के शासन में प्रसिद्ध किया गया है।

विवेकमयी चिन्तना- ज्ञानी संत बाह्य वृत्तियों से हटकर अंतर्वृत्ति में प्रवेश करने के लिए साहसपूर्ण चिन्तन कर रहा है। मैं इन समस्त सुख-दुःखों की वृत्ति को त्यागता हूँ। यह कषायभाव दुःख स्वरूप है, इन कषायों से दुःख होता है, इतना भी विलम्ब मत डालो, किन्तु यह कषाय स्वयं दुःखरूप है, ऐसा निर्णय रक्खो। कषाय करके कोई जीव क्या सुखी हो सका है? लोग द्वेष में आकर कलह बढ़ाते हैं, पर कलह बढ़ाकर कभी विद्रोह शान्त हो सका है क्या? कलह में तो कलह बढ़ता ही चला जाता है। उन सब कलंकों के भूल की बात अत्यन्त छोटी होती है, किन्तु मूल में तो भयभरी छोटीसी बात है और उसका विस्तार इतना फैल जाता है कि उसका मिटाना कठिन हो जाता है। घर में भी कोई झगड़ा बढ़ जाता है तो बढ़ता ही चला जाता है, किन्तु इतना बढ़ा हुआ उत्पन्न नहीं होता है। झगड़ा जिस किसी भी समय शुरू होता होगा वह अत्यन्त तुच्छ बात रहती है। बाद में फिर वह झगड़ा बढ़ता जाता है। झगड़ा बढ़ते-बढ़ते इतनी सीमा तक बढ़ जाता है कि जिसका निपटारा करना कठिन हो जाता है। कोई अपने मन पर विजय प्राप्त कर ले तो उसके कलह नहीं बढ़ सकती है।

विडम्बनाविस्तार- यहां भी संसार में देखो, कितनी विडम्बनाएँ बढ़ी हुई हैं, किसी का मनुष्य जैसा शरीर है, किसी का पशु-पक्षी जैसा शरीर है, जलचर जीवों का अन्य प्रकार का शरीर है; पृथ्वी, कीड़ा, मकोड़ा, पेड़, सभी जीव कैसे-कैसे विचित्र विभिन्न शरीर वाले हैं, यह तो है शरीरों की कथा। उन जीवों के भीतर के परिणाम भी कितने विचित्र-विचित्र हैं? ये सब विचित्र विडम्बनाएँ कैसे हुई हैं? इसका जब कुछ साधन सोचते हैं तो अंत में सोचते-सोचते बहुत छोटी बात मिलती है। वह क्या? इस जीव ने अनात्मतत्त्व को आत्मारूप से मान लिया। बस कसूर इतना ही मिलता है, इस पर अपराध का विस्तार कलह, विडम्बना, विपदा इतनी बढ़ गई कि आज इस विडम्बना को मिटाना कठिन हो रहा है। यह जीव शरीर और कर्म से छूटकर अपने में विश्राम पा ले, ऐसा उद्यम करना बड़ा कठिन मालूम हो रहा है।

मोह में कुमतिप्रसार- अहो ! जिस मोह के कारण यह जीव दुःखी है वही मोह इसे आसान जँच रहा है। यह मोही रागद्वेष को तो आसानी से कर लेता है जो कि विभाव हैं, विकार हैं, पराधीन हैं और अपना धर्मपालन और स्वभाव की दृष्टि जो कि सुगम है, स्वाधीन है उसे करना कठिन प्रतीत हो रहा है। ये समस्त नोकषायों के विकार इस मोही अंधे जीव को सुलभ मालूम हो रहे हैं। जो वस्तु अपनी नहीं है, जो परतत्त्व है उसके मोह में किसने आराम पाया है? पुराणों को देखो- जिन-जिन जीवों ने जिनसे मोह बढ़ाया था उनके निमित्त से उनको केवल क्लेश ही मिला है। कौरव पांडवों का कितना विकट युद्ध था? वह एक राज्य के स्नेह में ही तो हुआ था। किन्हीं भी महापुरुषों ने जो-जो विडम्बनाएँ सहीं उन सबका मूल कारण

एक स्नेहभाव था। चाहे लोकनीति का स्नेह किया हो, चाहे अन्याय का स्नेह किया हो पर उस स्नेह का परिणाम नियम से क्लेश ही है।

सुगम और दुर्गम कार्य- जो जीव अज्ञान और मोह से अंध हो गए हैं उन जीवों को ही ये मोह और भोग के साधन रुचिकर और सुलभ मालूम होते हैं, किन्तु जो ज्ञानी हैं, जो सहज ज्ञानप्रकाश से समृद्धिशाली हैं, आनन्दमग्न हैं, उन पुरुषों को तो केवल यही निज ज्ञानप्रकाश का दर्शन ही रुचिकर होता है। उन्हें विदित है कि यह धर्मपालन कितना सुलभ है, अपना ही तो यह उपयोग है और अपना ही स्वयं यह शाश्वत परमात्मतत्त्व है। यह उपयोग अपने आपको ग्रहण कर ले तो इसमें कौनसी अटक आती है? यह तो सुगम काम है। इस ज्ञानी पुरुष को अपना यह स्वानुभवरूप कार्य सुलभ लग रहा है और इन विषयप्रसंगों में चित्त जाना यह उन्हें कठिन लग रहा है।

ज्ञानी का धैर्य और अविचलितपना- ज्ञानी पुरुष के अनेक प्रकार के भोग साधन भी उपस्थित हों तो भी वे नहीं सता सकते हैं। शास्त्रों में सुनते हैं, देखते हैं कि अमुक पुरुष के प्रति सुन्दर देवांगनावों ने भी मन को चिगाने का काम करना चाहा तो भी न चिगे। सुदर्शन सेठ को कामविह्वला रानी ने कितना डिगाना चाहा तो भी न डिगे। ऐसी अडिगता की बात सुनकर मोहीपुरुष आश्चर्य करने लगते हैं, क्योंकि उन्हें तो यह कामविजय बड़ा कठिन मालूम होता है। ऐसे-ऐसे भी बलवान पुरुष जो अपने बल से बड़े क्रूर हस्ती और सिंहों को भी वश कर लें, हजारों सुभटों को भी अपनी लीलामात्र से ही परास्त कर दें, ऐसे सुभट भी इस कामवाण से व्यथित हो जाते हैं और-और भी रागद्वेष मोह के विकारों से त्रस्त हो जाते हैं। ये विकारभाव अज्ञानीजनों को त्यागने कठिन हो रहे हैं, किन्तु ज्ञानी संतजनों को तो ये एक लीलामात्र ही मालूम होते हैं। वे तो इन विकारभावों से अपने उपयोग को हटाकर शीघ्र ही अपने आपकी परमप्रभुता का दर्शन पा लेते हैं।

आत्मनिधि के अधिकारी- जो जीव वस्तुस्वरूप के अध्ययन से भेदविज्ञान प्राप्त करते हैं और भेदविज्ञान के अभ्यास से परपदार्थों की उपेक्षा करके निज तत्त्व में रत होने का यत्न करते हैं, ऐसे पुरुषों के ही यह परमसामायिक स्थायी होती है। ऐसी जिसके सामायिक स्थायी हो चुकी है ऐसे भगवंत पुरुषों ने यह प्रदर्शित किया है। यह परमशरण तत्त्व समाधिलीन जीवों को जो आनन्दरस से समृद्धिशाली हो रहे हैं ऐसे पुरुषों को सुलभ है। जो कषायों पर विजय प्राप्त कर लेते हैं उन्हें आत्मनिधि सुगमता से प्राप्त हो जाती है।

गाथा 133

जो दु धम्मं च सुक्कं च झाणं झाएदि णिच्चसा।

तस्स सामाङ्गं ठाई इदि केवलिसासणे॥133॥

धर्मध्यान व शुक्लध्यान में समाधि की पात्रता- जो पुरुष धर्मध्यान और शुक्लध्यान को ध्याता है उसके सामायिक स्थायी होता है, ऐसा केवली भगवान के शासन में कहा गया है। यह परमसमाधि अधिकार की अंतिम गाथा है, उसके उपसंहार में यह बात बतायी जा रही है कि जो धर्मध्यान और शुक्लध्यान को ध्याता है उसके ही परमसमाधि होती है। लोग समाधिभाव की प्राप्ति के लिए अनेक प्राणायामादिक शारीरिक यत्न करते हैं। धारणा, नियम, आदिक भी बाह्य पद्धति के होते हैं, पर समाधि का सम्बन्ध क्रियाकाण्डों से नहीं है। प्राणायाम आदि चित्त की एकाग्रता की पद्धति में सहायक हो सकता है, पर समाधि की पात्रता धर्मध्यान और शुक्लध्यान में ही होती है।

आनन्दमय समाधि के अधिकारी- समाधिभाव को वे ही योगीश्वर प्राप्त कर सकते हैं जिन्हें केवल शुद्धज्ञानस्वरूप के विकास की ही भावना रहती है, जिनको एक ज्ञानतत्त्व के अतिरिक्त अन्य कुछ रुचिकर नहीं होता है, ऐसे ज्ञान के लोलुपी और आनन्दरस से भरपूर पुरुष ही इस समाधिभाव को प्राप्त करते हैं। समाधि में कष्ट नहीं है, किन्तु परमसमाधि में तो सहज आनन्द की निरन्तर वर्षा चलती रहती है। जो पुरुष इन्द्रियों के विषयों को जीत लेते हैं वे योगीश्वर ही समाधि की साधना कर पाते हैं। बहिर्मुख वृत्ति बनने में ये इन्द्रिय के विषय बड़ा सहयोग देते हैं। इन्द्रिय का विषय जिन्हें सुहाता है उनकी दृष्टि बाह्यपदार्थों की ओर रहती है। जिन्हें हित चाहिए उनका कर्तव्य है कि इन्द्रियविषयों पर विजय प्राप्त करें।

परत्याग में स्वग्रहण की पात्रता- कुछ लोग ऐसा सोचते हैं कि खाना-पीना त्यागने में और उसमें बड़ा नियम बनाने में, अमुक ही खाना, अमुक न खाना इस बात से क्या आत्मा का सम्बन्ध है? आत्मा को तो ज्ञान चाहिए, ज्ञान से ही मुक्ति है, लेकिन उन्हें यह ध्यान नहीं है कि इन विषयों की ओर जो अपने भीतर भाव बनाया है वह भाव ज्ञान की ओर आने कब देगा? जो इन्द्रिय विषयों का लोलुपी है वह आहारादि का परित्याग नहीं कर सकता है और जब आहारादिक का परित्याग नहीं कर सकता है, निरन्तर उसका संस्कार रहता है तो समाधि उत्पन्न करने की पात्रता आयेगी कहाँ से? जो जीव मांस, मदिरा आदि का भक्षण करने वाले हैं उन्हें इस समाधि का स्वप्न भी नहीं आ सकता है। जो जीव जिस परिस्थिति में है उस परिस्थिति में सामान्यतया जो सद्व्यवहार चल सकता है उस व्यवहार से भी जो गिरा हुआ है उसको समता की पात्रता नहीं है।

उन्नतिशील आचरण में हितसाधना- पशु-पक्षी तिर्यच जीवों का साधारण मनुष्यों से भी गया बीता आचरण है। उनका आचरण मनुष्यों से गिरा हुआ भी रहे तो भी यदि वे उस व्यवहार से ऊँचे उठकर कुछ भी संभल जायें तो उन्हें हित का मार्ग मिल जाता है। तिर्यच जब संभलते हैं तो उनके जब जघन्य संयमासंयम होता है वह मनुष्यों के जघन्य संयमासंयम से ऊँचे दर्जे का होता है, किन्तु मनुष्यों में जो

जिस कुल का है उस कुल के योग्य जो सामान्यतया व्यवहार है उस व्यवहार से कुछ गिर जाय तो उसकी मोक्षमार्ग की पात्रता नहीं रहती है। कोई जैन कुल में उत्पन्न हुआ पुरुष रात्रिभोजन, अभक्ष्य भक्षण करता हो, किसी अन्य नीचे पुरुष के आचरण से तुलना करके अपने को श्रेष्ठ कहकर अपनी पात्रता दिखाए तो यहां पात्रता नहीं हो सकती है। जो जिस व्यवहार में आया हुआ है उस व्यवहार से गिरा हुआ उसका आचरण है तो वह पतनोन्मुख है या उन्नतोन्मुख है? उन्नति की पात्रता नहीं है। यद्यपि जैन कुल में उत्पन्न हुआ पुरुष करोड़ों से अच्छे आचरण वाला है, परन्तु वह आचरण कौलिक है, उससे ऊपर कुछ भी अधिक उठने की भावना न हो तो वह यहां आचरण गिरे हुए की हालत में है। इस कारण समस्त संज्ञी जीवों को अपनी उन्नति की ओर उठते हुए रहना चाहिये। उन्नति की ओर उठते हुए में ही पात्रता आती है।

धर्म का आधारभूत सदाशिवात्मक आत्मा- ये योगीश्वर जो इन्द्रिय विषयों के विजयी हैं, ये ही इस सदाशिव आत्मा का ध्यान कर पाते हैं, जिस सदाशिव के ध्यान में समाधिभाव प्रकट होता है। जितने भी धर्मावलम्बी हैं उन सबके मूल प्रणेताओं में भी मूल ऋषियों का दृष्टिकोण विशुद्ध रहा आया होगा, किन्तु जैसे-जैसे वह ज्ञान की किरण कमती होती गयी, वहां कुछ अपना कल्पित परिज्ञान किया और उसके आने का यह रूपक है कि धर्म के नाम पर आज पचासों भेद पड़ गए हैं और इस भेदवाद के जमाने में भेदवाद के मिटाने का यत्न करने वाला स्याद्वाद भी भेदवाद की गिनती में आ गया। धर्म नाम है शुद्ध ज्ञानप्रकाश का। धर्म किसे करना है हमको या भगवान को? ज्ञानप्रकाश किसे करना है? ज्ञानप्रकाश हमको करना है, भगवान तो ज्ञानमय है। हम ज्ञानप्रकाश न करना चाहें और प्रभु से भीख मांगे तो धर्म तो नहीं हो सकता। ज्ञानप्रकाश का आधार है यह स्वयं आत्मा। जब तक अपने आपके ज्ञानप्रकाश के आधार का श्रद्धान न बने तब तक धर्म आयेगा कहां से? जहां से धर्म प्रकट होगा उस धर्म की ही श्रद्धा न हो तो धर्म की उत्पत्ति कहां से होगी?

धर्मध्यान व शुक्लध्यान की विशेषता- इस निज आत्मतत्त्व में जो यत्न करके लगना है वह तो धर्मध्यान है और जहां यत्न नहीं करना है, उद्यम नहीं करना है, स्वतः ही ज्ञानप्रकाश बना रहे वह है शुक्लध्यान। धर्मध्यान में रागांश का सहयोग होता है और शुक्लध्यान में वीतराग का पुट है, किन्तु धर्मध्यान भी स्वात्मा के आश्रय से होता है और शुक्लध्यान भी स्वात्मा के आश्रय से होता है, ऐसे स्वात्मा के आश्रय में होने वाले निश्चय धर्मध्यान के द्वारा परमसमाधि प्रकट होती है।

सदाशिव का स्वरूप- सदाशिव का अर्थ कुछ लोग यह करते हैं कि कोई जगत का रचने वाला यह ईश्वर है और ईश्वर सदा से मुक्त है। वह कभी भी बन्धन में नहीं था और उस सदाशिव की भक्ति करके जो सदाशिव के प्रसाद से मुक्ति प्राप्त करते हैं उनकी मुक्ति की सीमा है। वे कब तक मुक्त रहेंगे, इसकी सदाशिव ने सीमा लिख दी है और सीमा के बाद सदाशिव उन्हें ढकेल देते हैं और उन्हें संसार में फिर रुलना पड़ता है, ऐसे सदाशिव की बात नहीं कही जा रही है, किन्तु जो ज्ञायकस्वरूप सदा काल से

शिवमय है, कल्याणमय है, अपने स्वरूप में स्वरसतः त्रिकालमुक्त है, ऐसे त्रिकालनिरावरण सदाशिव के ध्यान की बात कही जा रही है।

समाधि में धर्मध्यान व शुक्लध्यान का अनिवार्य सहयोग- ये जिन योगीश्वर निश्चय धर्मध्यान के द्वारा इस सदाशिवात्मक आत्मतत्त्व के ध्यान के जब अभ्यासी हो जाते हैं तब इनके निश्चयशुक्लध्यान प्रकट होता है। जहां समस्त प्रकार के विकल्पजाल नहीं रहे हैं, किन्तु केवलज्ञान का उदय न होने से जिनके चित्त का कार्य होता है तथा चित्त की एकाग्रता की वृत्ति होती है उनके यह शुक्लध्यान प्रकट होता है। शुक्लध्यान केवलज्ञान के प्रकट होने पर नहीं होता है, आगम में जो दो शुक्लध्यान केवलज्ञानियों के बताए हैं वे उपचार से कहे गए हैं, उनमें ध्यान शब्द का अर्थ घटित नहीं होता है। ध्यान का फल निर्जरा है, सो निर्जरा के कारण ध्यान का उपचार है। एक ओर चित्त के लगा देने का नाम ध्यान है। जहां तक संज्ञी अवस्था है वहाँ तक यह ध्यान चलता है। केवली भगवान संज्ञी नहीं हैं, न असंज्ञी हैं, किन्तु अनुभय कहलाते हैं। जहाँ मन का कोई कार्य ही नहीं रहा है वहाँ ध्यान कैसे कहा जाय? शुक्लध्यान में भी परिवर्तन होता रहता है और यह परिवर्तन ज्ञप्तिपरिवर्तन है। यह धर्मध्यान अन्य ध्यानों की तरह रागमूलक परिवर्तन नहीं है। जब तक ज्ञान की समाप्ति नहीं होती है, तब तक यह ज्ञान एक बात पर टिका रह सके, ऐसी बात पूर्व वासना के कारण नहीं होती है।

विशुद्ध ध्यान- उत्कृष्ट साधना से शुक्लध्यान प्रकट होता है और वह शुक्लध्यान 12वें गुणस्थानों के कुछ समय तक तो पृथक्विचार शुक्लध्यान रहता है जिसमें विचार है, परिवर्तन है, 8 वें, 9 वें, 10 वें, 11 वें गुणस्थान तक तो पूर्ण समय पृथक्त्व वितर्क विचार रहता है और 12 वें गुणस्थान में कुछ समय तक यह परिवर्तन चलता है। बाद में जब परिवर्तन नहीं होता है तो एकत्व वितर्कविचार शुक्लध्यान होता है, इसके पश्चात् अनन्तर ही केवलज्ञान प्रकट होता है। इस एकत्व वितर्कविचार को भी हम क्या कहें? परिवर्तन होता है या नहीं होता है, इसका भी क्या निर्णय करें? परिवर्तन के लिए अवसर भी तो नहीं मिलता, तुरन्त ही केवलज्ञान हो जाता और उस द्वितीय शुक्लध्यान में जो विषय ज्ञेय बन रहे थे, अब सकल ज्ञेय विषय हो गए तो हम यह भी क्या मना करें कि द्वितीय शुक्लध्यान के विषय में परिवर्तन होता नहीं होता। इस शुक्लध्यान के काल में परिवर्तन नहीं होता, यह निश्चित है। ऐसे शुक्लध्यान के द्वारा जो योगीश्वर सदाशिवात्मक निजअंतस्तत्त्व को ध्याता है उसके यह परमसमाधिभाव प्रकट होता है।

आत्मा का चिद्विलास- यह परमब्रह्म आत्मतत्त्व निरन्तर चिद्विलासस्वरूप है। इस चैतन्यस्वरूप आत्मा में इस चेतन का ही तो विलास होगा। वस्तु का सत्त्व स्वतःसिद्ध है और जो वस्तु जिस स्वभावात्मक है उस वस्तु में उस ही के अनुरूप विलास होगा। क्या कभी पुद्गल द्रव्य जाननहार बन सकते हैं? नहीं बन सकते हैं, निरन्तर रूप, रस, आदिक रूप ही परिणम सकते हैं। इसी कारण क्या यह आत्मा कभी चिद्विलास को छोड़कर रूप, रस आदिक रूप परिणम सकता है? कभी नहीं परिणम सकता

है। विकार अवस्था ने भी इस चित्स्वभाव के, चित्ततत्त्व के अभिन्न आधारभूत जीवास्तिकाय में जो भी विकार उपाधिवश बन सके, भले ही हो जाय, मगर चैतन्यस्वभाव के विपरीत रूप आदिक परिणमन कभी नहीं हो सकते।

आत्मा का अखंड स्वरूप- यह आत्मपदार्थ निरन्तर अखंड अद्वैत सहज चिद्विलासस्वरूप है, अखंड तो यों है कि यह एक वस्तु है, यह मेरा आत्मा एक परमपदार्थ है, उसमें जो भी परिणमन होगा, यद्यपि यह आत्मा प्रदेश की अपेक्षा विस्तार को लिए हुए है। परन्तु परिणमन विस्तार को लिए हुए नहीं होता। जैसे आकाश प्रदेश की अपेक्षा विस्तार को लिए हुए है, परन्तु आकाश का परिणमन विस्तार को लिए हुए नहीं होता और इसी कारण अलोकाकाश में पड़े हुए असीम आकाश को परिणमने के लिए लोकाकाश में पड़ा हुआ कालद्रव्य ही निमित्त हो जाता है। कालद्रव्य लोक के बाहर नहीं है, वहाँ यह समस्या नहीं आती है कि अब यह अलोकाकाश से परिणमे। आकाश में प्रदेश विस्तार है, किन्तु परिणमन का विस्तार नहीं है। जो भी एक परिणमन है वह उस एक पूर्ण पदार्थ में होता है। जैसे यह चौकी जल जाय तो एक खूँट जल रहा है, चौकी नहीं जल रही है और वह परिणमन धीरे-धीरे आता जा रहा है। यहाँ यह परिणमन का विस्तार नजर आता है तो यह चौकी एक नहीं है इसलिए यह विस्तार नजर आता है। यह अनन्त परमाणुओं का स्कंध है। एक पदार्थ में परिणमन विशेष नहीं होता। इस प्रकार का तो यह मैं आत्मा अखण्ड हूँ।

आत्मा की अद्वैतता व क्रियाकाण्डपराङ्मुखता- यह मैं आत्मतत्त्व अद्वैत हूँ। मेरे स्वरूप में किसी दूसरे का प्रवेश नहीं हो सकता है। अभेद्य हूँ इसलिए अद्वैत हूँ, ऐसा सहज शुद्ध चैतन्य के विलासरूप यह मैं अंतस्तत्त्व हूँ। यह आत्मा आत्मीय आनन्द के विलास में डूबा हुआ है। समस्त बाह्यक्रियाकाण्डों से पराङ्मुख है। यह अपने स्वरूप में अपना स्वभाव मुख मोड़े हुए है। हाथ, पैर कहीं कैसे ही चलो, पर यह अंतस्तत्त्व अपने में ही वर्त रहा है। समस्त बाह्य क्रियाओं से यह पराङ्मुख है। मोही जीव कल्पनावश बाह्य क्रियाओं के सम्मुख होता है, वहाँ पर भी यह आत्मतत्त्व उन क्रियाओं से पराङ्मुख है। यह तो निरन्तर अपनी अंतःक्रियाओं का अधिकरणरूप है। ऐसे इस आत्मतत्त्व को परम जिन योगीश्वर धर्मध्यान और शुक्लध्यान के द्वारा ध्याता है।

समता परमसम्पदा- ये दोनों ध्यान परमसमाधिरूप सम्पदा के कारण हैं। आत्मा की वास्तविक सम्पत्ति समता है। कोई पुरुष गृहस्थी में या अन्य कार्यों में बिगड़ रहा हो उस समय की उसकी मुद्रा निरखो और विश्राम और समता से बैठा हुआ हो उस समय की उसकी मुद्रा देखो, समता की मुद्रा सुभग होती है। लोग रूपों में यह खोज करते हैं कि यह सुन्दर रूप है और यह असुन्दर रूप है, कैसी भी सुन्दर महिला हो अथवा पुरुष हो, यदि वह कर्कश हो, वहाँ क्रोध भी निरन्तर बरसता हो, छल-कपट से दुनिया को परेशानी में डाले हो तो रूपवान् नहीं जँचता है और कोई सांभला हो अथवा काला हो, पर वह परोपकारी

हो और सदा शान्त रहता हो, क्षमाशील हो तो उसकी मुद्रा के निरखने पर उसमें सुरूपता झलकेगी, उसमें कान्ति प्रकट होगी। जिस स्वच्छता के प्रताप से यह रूप बनता है उस स्वच्छता का तो इस जगत के मोहियों ने अनादर किया है और केवल उस बाह्य रूप में ही आसक्ति है। इस कारण वे रूप का मधुर आनन्द नहीं ले पाते हैं। रूप परिणमन का जो मूल साधन है उसमें प्रीति हो तो रूप का आनन्द प्राप्त होगा। यह तो पौद्गलिक ठाठ है, परम सम्पदा तो समता है। इस परमसमाधि के कारण, समता के कारणभूत ये दोनों ध्यान हैं।

स्वात्माश्रित ध्यान- यह हितकारी ध्यान स्वात्मा के आश्रय से उत्पन्न होता है और निर्विकल्प है। धर्मध्यान में तो रागादिक का स्थूल विकार नहीं है और शुक्लध्यान में तो ये सूक्ष्म भी विकल्प नहीं हैं, ऐसे इन दोनों ध्यानों के द्वारा जो सदा निरावरण आत्मा को ध्याता है उसके ही नित्य शुद्ध सामायिक व्रत होता है। यह समतापरिणाम मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति से रचा गया है। जिनेन्द्र भगवान के शासन में यह बात प्रसिद्ध की गयी है कि इस जीव को भरण समाधिभाव है और वह समाधिभाव इस सदाशिवात्मक परमसमाधि के ध्यान से प्रकट होता है। वे योगीश्वर धन्य हैं जिनकी बुद्धि धर्मध्यान और शुक्लध्यानरूप परिणामी हुई है, जो निर्दोष सहज आनन्दस्वरूप आत्मतत्त्व का आलम्बन लिए हुए हैं, ऐसे ध्यान वाले शुद्ध रत्नत्रयात्मक योगीश्वर ऐसे विशाल आनन्द पद को प्राप्त करते हैं जहाँ समस्त दुःख समूह नष्ट हो गए हैं।

परमसमाधि का उपसंहार- इस अंतस्तत्त्व को वचनों से नहीं कहा जा सकता है। सर्वविकल्पों को छोड़कर सहज ज्ञानानन्दस्वरूप निज आत्मतत्त्व में उपयोग लगायें तो मेरा यह अनुभव सहज प्रकट हो सकेगा। विकल्प करके इस परमसमाधि के दर्शन नहीं हो सकते हैं। इस परमब्रह्म की दृष्टि उस ही पुरुष के उत्कृष्ट हो सकती है जिसको अपने इस शरीर तक की भी चिन्ता नहीं है, समस्त परिग्रहों से जो विरक्त है, समस्त परिग्रहों का जो त्याग कर दे, किसी भी परिग्रह की ओर दृष्टि न दे, आत्महित की निष्ठा से अपने अंतस्तत्त्व की रुचि बढ़ाये, ऐसे उपासकों को भी इस परमसमाधि के चमत्कार का क्षणभर को दर्शन हो जाता है। परमसमाधि के पात्र सम्यग्दृष्टि पुरुष को, परमसंयमी पुरुष को भावपूर्वक नमस्कार हो। यह परमसमाधि का उपसंहार है। उप का अर्थ है समीप में, सं का अर्थ भले प्रकार, हार का अर्थ है आत्मायत्त कर लेना। यहाँ समतापरिणाम को, परमसमाधि को अपने आपमें खपा लिया गया है। यों परमसमाधि अधिकार के उपसंहार में परमसमाधि का उपसंहार किया गया है।

परमसमाधि अधिकार समाप्त

परमभक्ति अधिकार

गाथा 134

सम्मत्तणाणचरणे जो भक्ति कुणदि सावगो समणो।

तस्स हु णिव्वुदिभत्ती होदित्ति जिणेहि पण्णत्तं ॥134॥

समता और भक्ति की निकटता- समाधि के बाद अब यह भक्ति का अधिकार आ रहा है। समाधि का अर्थ है समता और भक्ति का अर्थ है भजना, सेवन करना या यों कहो कि यह योगी समता का तो कर्ता है और भक्ति का भोक्ता है। इस भक्ति अधिकार में इस भक्ति को निर्वाणभक्ति के रूप में प्रदर्शित किया जा रहा है। भक्तियों में उत्तम भक्ति निर्वाणभक्ति है। किसकी सेवा करना है, किसमें लगना है, जिसमें अपना शरण है, यह हो तो वहाँ ही उत्तम भक्ति है। निर्वाण का अर्थ कुछ लोग बुझ जाना भी कहते हैं। जैसे दीपक बुझ गया, दीपक का निर्वाण हो गया। इस निर्वाण में समस्त संकट बुझ जाते हैं इसलिए इसे निर्वाण कहते हैं। जो पुरुष श्रावक हो अथवा साधु हो, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और आचरण में भक्ति को करता हो उसके निर्वृत्तभक्ति होती है, ऐसा जिनदेवों ने कहा है।

आत्महित का कार्य- भैया ! काम एक है—पदार्थ अपने स्वरूप में रहे, यह आत्मा अपने स्वरूप में रहे, यही मोक्ष है, यही मोक्षमार्ग है। खुद खुद में रहे यह इतना कठिन काम हो गया है कि इसके लिए बड़ी भावनाएँ, बड़ा तत्त्वज्ञान, बड़े शास्त्राभ्यास आदि अनेक उपाय रचे जा रहे हैं। काम कितना करना था जिसके लिये इतने उपाय रचे गए? खुद-खुद में रह जाय, इतना करना था, पर हो क्या रहा है? यह उपयोग इस ही का है, पर यह उपयोग अपनी ओर रंच भी नहीं झुक रहा है और एकदम पर की ओर दौड़ा जा रहा है। वस्तुस्वरूप अब भी करुणा कर रहा है। उपयोग चाहे कितनी ही दूर पहुंच जाय, फिर भी उपयोग आत्मप्रदेश में ही बन रहा है। यह कहीं अपने आधारभूत आत्मा को त्यागकर बाहर नहीं जाता। यह जीव किसी भी बाह्य पदार्थ में ममत्व कर रहा हो, तिस पर भी इसकी कुछ भी अपनी अंतरंग पर्याय आत्मप्रदेश को छोड़कर बाहर नहीं जाती है। वस्तुस्वरूप मिटता नहीं है, न वह कभी धोखा दे सकता है, यह जीव कल्पना से स्वयं धोखा खाता रहता है, परपदार्थों से धोखा कुछ भी नहीं है। चतुर्गतिरूप संसार में जो जीव का भ्रमण चल रहा है इस भ्रमण का कारण अपने आपकी सुध न रहना और अपने उपयोग को बाहर में फैलाना है।

आत्मा का ऐश्वर्य- यह जीव ऐश्वर्यशाली है, आत्मा की ओर यह बढ़े तो बढ़ने का चमत्कार दिखाता है और बाह्य की ओर बढ़े तो अपने बिगाड़ का चमत्कार दिखाता है। विकृति और बिगाड़, इन दोनों का एक ही अर्थ है। बिगाड़ में भी वस्तुस्वरूप नहीं मिटता जैसे कि विकार में नहीं मिटता है। विकृति संस्कृत शब्द है इसका प्राकृत शब्द है- वियडि, विगडि और उसी का बिगड़कर हिन्दी में बिगाड़ शब्द रह गया। यह आत्मा बिगाड़ की ओर लगा तो ऐसा बिगड़ता है कि पेड़ों में फल-फूल पत्तियों में फैल जाता है, और

उसका सन्निधान पाकर नोकर्म वर्गणाएँ फूल, पत्ते, मकरंद, केसर कितने ही प्रकार के परिणमन बन जाएँ यह क्या ईश्वर की कला नहीं है? यह ही परमेश्वर अपना ऐसा चमत्कार दिखाता है कि यह अपनी ओर मुड़ जाय, स्वरूप में प्रवेश करे तो यह लोकालोक का ज्ञाता विशुद्ध आनन्द का भोक्ता परम आदर्श बन जाता है। जिसमें कला होती है वह कलावान् अपनी कला का विस्तार किए बिना नहीं रह सकता है। यह आत्मा भी परमकलासम्पन्न है और इसी कारण यदि अपनी कला का विस्तार बिगड़ रहा हो तो वहाँ भी बनाता है और सुधर गया हो तो वहाँ भी बनाता है।

आशय के अनुरूप प्रवृत्ति की दिशा- प्रवृत्तियों की गाड़ी आशय से चलती है। जैसे नाव के खेने वाले तो केवल नाव खेते हैं, बढ़ते हैं आगे, परन्तु किस ओर नाव बढ़े, यह कर्णधार के आधीन है। जो पीछे करिया लगा रहता है उसके आधीन है कि नाव किस ओर बढ़े और खेने वाले तो खेते जाते हैं, ऐसे ही आचरण तो खेने वाले की तरह है। आत्मा में परिणति प्रतिक्षण चलती जाती है, पर किस ओर परिणति चले इसका कर्णधार है श्रद्धागुण। जिस प्रकार का आशय हो उस ओर ही इसकी परिणति बढ़ेगी। जब जीव के मिथ्या आशय रहता है तो उस आशय से इस जीव का चतुर्गतिरूप संसार में भ्रमण होता है। मिथ्याभाव का उल्टा है सम्यक्त्व। जब सम्यक्त्वभाव उत्पन्न होता है तो इसकी वह दशा भी बदल जाती है। अब यह आत्मा निज परमात्मतत्त्व का श्रद्धान और इस परमप्रकाश का ज्ञान और इस परमप्रकाश के अनुरूप प्रकाशमय आचरण करने लगता है। इस ही का नाम है शुद्ध रत्नत्रय परिणाम।

वस्तु का एकत्व- प्रत्येक वस्तु एक होती है, उसका स्वभाव एक होता है और उसका प्रति समय का परिणमन भी एक ही होता है। लोग कहते हैं कि आग का काम जलाना है, अग्नि का काम प्रकाश करना है, अग्नि का काम ठंड वाले को भला लगना है, अग्नि का काम संताप से पीड़ित पुरुष को पीड़ा देना है, कितने ही काम लोग बता डालते हैं, पर अग्नि के इतने काम ही नहीं। अग्नि का काम अग्नि में केवल एक है, जिसको बताने का कोई शब्द नहीं है। उस अग्नि का निमित्त पाकर वस्तुओं में क्या-क्या परिणमन होता है उनका नाम लेकर लोग कहा करते हैं कि अग्नि का काम जलाना है, अग्नि का काम प्रकाश करना है, यह सब नैमित्तिक बातों की उपेक्षा से प्रतिपादन है। अग्नि का सन्निधान पाकर योग्य निकट में समागत पदार्थ अपने परिणमन से प्रकाश पर्यायरूप हो जाता है, अग्नि दूसरे को प्रकाशित नहीं करती है। अग्नि का निमित्त पाकर ठंड वाले पुरुष अपनी ठंड पर्याय को त्यागकर गरमाहट अनुभव करते हैं। अग्नि पुरुष को गर्म नहीं कर देती है, किन्तु वह एक ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है जिसमें व्यवहार में यों ही कहना पड़ता है कि इसने ही यह सब कुछ किया।

आत्मकार्य- यह आत्मा वस्तुतः क्या करता है? जिसको करता है वह एक चिद्विलास है, आत्मा का एक स्वभाव है, क्या स्वभाव है? वह केवल अनुभवगम्य है। जिस काल में उस चिद्विलास का अनुभव हो रहा है उस काल में भी भेदरूप जानकारी नहीं चल रही है, वहाँ स्वभाव के अनुभवरूप तो सुध है, पर स्वभाव की विकल्पात्मक जाननरूप सुध नहीं है। यह आत्मश्रद्धान करता है, पदार्थों को जानता है आदिक भावरूप प्रतिपादन किया जा रहा है, पर आत्मा स्वयं में अपने आपका क्या कर रहा है? वह तो आकाश

आदिक की तरह अपने आपमें शुद्ध अर्थपरिणमन कर रहा है। अन्तर इतना है कि वह अचेतन है और यह आत्मा चेतन है। वह अचेतनात्मक विलास करता है और यह चिद्विलासात्मक विलास करता है, पर स्वयं में तो यह अपने अर्थपरिणमनरूप ही परिणम रहा है। उस एकत्व परिणमन में जो परिणत है उसे कहते हैं शुद्ध रत्नत्रयात्मक आत्मा। इस शुद्ध रत्नत्रयात्मक आत्मा का सेवन होना, भक्ति होना, आराधना होना, यही परमभक्ति है। इस परमभक्ति में क्षमागुण स्वतः प्रकट हो गया है, इस परमभक्ति में मान नष्ट हो चुका है और पूर्ण मृदुलता आ गयी है, इस स्वभावभक्ति में छल कपट का अवकाश नहीं है, इस स्वभाव की आराधना में तृष्णा का कहीं काम ही नहीं है।

लुटे-पिटे की तृष्णा- जब किसी बड़ी निधि वाले की बड़ी निधि हर जाती है तो उसको छोटी चीज में बड़ विकट तृष्णा उत्पन्न हो जाती है। कोई बड़ा पुरुष पापोदय से अपनी निधि को गँवा दे तो वह निधि को बड़े बेढंग ढंग से गँवा देता है। सोना, चांदी, हीरा, जवाहरात को वह दूसरे के यहाँ गिरवी नहीं रखता है, दूसरों के हाथ से दूसरों के यहाँ गिरवी रखता है। जब निर्धन हो जाता है और घर के खपरा बिकने लगते हैं तो वह उन खपरों को गिन-गिन कर देता है। अरे ! पहिले जब निधि लुट रही थी तब रंच भी परवाह न करता था, आज जब बड़ी निधि लुट गयी तो छोटे-छोटे विषयों के आनन्द की तृष्णा हो जाती है। ऐसे ही यहां अनन्त आनन्द की निधि लुट गयी है तो छोटे-छोटे विषयों के आनन्द की तृष्णा हो जाती है। अपने स्वभाव की भक्ति से सर्वविषयकषाय शान्त हो जाते हैं और गुमी हुई आनन्द की अनन्त निधि प्राप्त हो जाती है।

श्रावकपद- इस स्वभावभक्ति को, शुद्ध रत्नत्रय के सेवन को साधु और श्रावकजन दोनों करते हैं। अब जितना जहां शुद्ध चारित्र प्रकट हुआ है, आत्मरमण का बल प्रकट हुआ है वह उतने रूप में इस शुद्ध रत्नत्रय की सेवा करता है। श्रावक 11 पदों में मिलते हैं, जिनके नाम हैं—दार्शनिक, व्रती, सामायिकी, प्रोषधोपवासी, सचित्त त्यागी, रात्रिभुक्तित्यागी व ब्रह्मचारी, निरारम्भी, परिग्रहत्यागी, अनुमतिविरत व उद्दिष्टाहारत्यागी-

इन ग्यारह पदों में आत्मरमण उत्तरोत्तर विशेष जाहिर होता है। यह पद सहज ज्ञान और वैराग्य के कारण हुआ है। यह पद ज्ञानी पुरुष के सहज होता है। जैसे सामायिक नाम का व्रत है। जो ज्ञानहीन पुरुष हैं, वैराग्यहीन हैं उन्हें सामायिक जानकर हठपूर्वक करना पड़ता है और ऐसी हठपूर्वक क्रिया में उनके भाव संक्लिष्ट रहते हैं, जबकि ज्ञानी पुरुष सामायिक के कर्तव्य को छोड़कर अन्य किसी कर्तव्य को आफत मानते हैं और सामायिक का काल आये, सामायिक की विधि करने लगे तो उसे परमविश्राम मिलता है और अज्ञानी की अन्तर्ध्वनि यह निकलती है कि अब सामायिक करने का समय आ गया है। नियम लिया है इसलिए हमें करनी पड़ेगी, वह आपत्ति मानता है। सब आचरणों का मूलतत्त्व ज्ञान और तत्त्वश्रद्धान है।

श्रावकपदों में विभाजन- श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं में ऐसा विभाजन है कि प्रथम 6 प्रतिमाएँ तो जघन्य श्रावक की मानी जाती हैं, बाद की 3 प्रतिमाएँ मध्यम श्रावक की मानी जाती हैं और उसके बाद की दो प्रतिमाएँ उत्तम श्रावक की समझी जाती हैं। जब तक पूर्णरूप से ब्रह्मचर्य की साधना नहीं होती है

तब तक श्रावक को जघन्य प्रतिभावान् कहा गया है, यद्यपि वह सचित्त का त्याग किए है, रात्रिभोजन का अनुमोदन भी नहीं करता, सामायिक और व्रत भी करता है। अब और शुभ प्रवृत्ति करने में कौनसी कसर है। इसके बाद यह निवृत्ति-निवृत्ति आयेगी, किन्तु प्रायः काम तो 6 प्रतिमा तक है। बाद में तो निवृत्ति है, लेकिन जब तक ब्रह्मचर्य की परिपूर्ण साधना नहीं होती तब तक ये सब जघन्य श्रावक की प्रतिमा कहलाती हैं। इसके बाद जब तक अनुमोदन का संस्कार है अर्थात् घर वालों से किसी प्रकार का सम्बंध है तब तक मध्यम श्रावक कहलाता है, यद्यपि वह ब्रह्मचारी है, निरारम्भी है, वस्त्र और बर्तन के सिवाय कोई परिग्रह नहीं रख रहा है। 9 वीं प्रतिमा में तो किसी ने बुलाया तो खा लिया, न बुलाया तो न खाया और भी कितनी ही स्थितियाँ हैं तब भी जब तक गृहकार्य की अनुमोदना कर रहा है तब तक वह उत्तम नहीं कहलाता। अनुमोदन तक का भी त्याग हो और केवल आत्मसाधना का समर्थन हो यह उत्तम श्रावक के होता है।

संकटहारी निर्वाणभक्ति- ये सभी श्रावक शुद्ध रत्नत्रय की भक्ति करते हैं और परमतपस्वी जन तो संसार के संकटों से अलग होना चाहते हैं, परमनिष्कर्म अवस्था में जिनकी वृत्ति है, ऐसे परमतपस्वी जन इस शुद्ध रत्नत्रय की भक्ति करते हैं। यही भक्ति उनकी निर्वाणभक्ति है, मोक्षस्वरूप लक्ष्मी की भक्ति है। परमभक्ति में यह बताया है कि भक्ति करो उत्कृष्ट रूप से तो वह भक्ति निर्वाण की हो सकती है, उससे पहिले जितनी भी भक्ति है वे सब भक्ति निर्वाण की प्रयोजिका हैं, परमभक्ति तो निर्वाण की भक्ति है। जो जीव इस सम्यक्त्व की, ज्ञान की और चारित्र की निरन्तर भक्ति करते हैं वे संसार के संकटों से निवृत्त हो जाते हैं। भवभयहारी यह भक्ति, किसी बड़े की भक्ति भय से निवृत्त होने के लिए ही की जाती है। समस्त भय दूर हो जाएँ, ऐसा बड़ा कौन है जिसकी भक्ति से ये सब संकट टलें? वह है निर्वाण अथवा सदाशिवमय आत्मतत्त्व। इस विमुक्त एकत्वस्वरूप की भक्ति में सर्व प्रकार के भय दूर हो जाते हैं। जो इस शुद्ध रत्नत्रय की निरन्तरभक्ति करते हैं वे श्रावक हों अथवा संयमी हों, वे काम, क्रोध, मान, माया, लोभ सब बैरियों से मुक्त हो जाते हैं।

सुरक्षित स्वधाम में विश्राम का अनुरोध- इस जीव ने विकल्प किया कि कषाय बैरियों ने आक्रमण किया, विकल्प न किये जायें तो ये बैरी कहां से आक्रमण करें? किसी खरगोश के पीछे शिकारी कुत्ते छोड़े जाते हैं तो खरगोश छलांग मारकर, भागकर किसी झाड़ी में जा छिपता है, पर वह यह कल्पना बनाता है कि कहीं कुत्ते आ तो नहीं रहे हैं सो उन्हें देखने के लिए वह झाड़ी से बाहर निकलता है, अपने गुप्तस्थान को छोड़ देता है और शिकारी कुत्ते उसे देखकर उसका फिर पीछा करते हैं। अरे खरगोश ! तू धैर्य रख, शंका करना छोड़ देता तो फिर तुझ पर कोई आफत न आती। तू तो सुरक्षित हो गया था, पर वह गुप्त स्थान पर गुप्त नहीं रहता है। ऐसे ही यह आत्मा जब अपने गुप्त स्थान में पहुंच जाता है और इन बैरियों के आक्रमण से बच जाता है तो इसकी स्वरक्षा हो रही है, किन्तु यह आत्मा अपनी स्वरक्षा का विश्वास न करके बाहर में ढूंकने लगता है। जैसे ही बाहर की ओर ढूका कि ये काम क्रोधादिक बैरी इस पर आक्रमण

कर देते हैं। अरे तू एक बार तो अपने स्वरक्षास्थान में आ। सर्व प्रयत्न करके स्वरक्षागृह में ही बसा रहे तो इसके समस्त संकट दूर हो जायेंगे। बस इस स्वरक्षित आत्मधाम की सेवा ही परमभक्ति कहलाती है।

परमभक्ति व निर्वाणभक्ति का सम्बंध- इस परमभक्ति अधिकार में किसकी भक्ति की है? परम की भक्ति की है। परम का अर्थ है- पर मायने उत्कृष्ट, मा मायने लक्ष्मी, जहां उत्कृष्ट लक्ष्मी पायी जाय उसका नाम परम है। लौकिक समस्त पदार्थों में उत्कृष्ट स्वरूपवान् है आत्मा और इस आत्मा में भी उत्कृष्ट स्वरूप है सहज परमपारिणामिक भाव। उस ही का नाम परम है। उस परम की भक्ति करने से निर्वाणभक्ति होती है, निर्वाण प्राप्त होता है। परमभक्ति तो कारण है और निर्वाणभक्ति कार्य है। परम की भक्ति करना, इसका अर्थ है परमभाव का आश्रय करना। अमुक पुरुष ने अमुक की भक्ति की, इसका अर्थ है अमुक का आश्रय लिया। निर्वाण की भक्ति करना, निर्वाण के आनन्द का सेवन करना। अमुक पुरुष ने भोजन की भक्ति की, इसका अर्थ है भोजन का सेवन किया। परमभक्ति में तो परम का आश्रय है और निर्वाणभक्ति में निर्वाण के आनन्द का सेवन है। यों परमभक्ति के प्रसाद से निर्वाणभक्ति प्राप्त होती है, उस ही का वर्णन इस अधिकार में चल रहा है।

गाथा 135

मोक्खंगयपुरिसाणं गुणभेदं जाणिरुण तेसिंपि।

जो कुणदि परमभत्ति ववद्वारणयेण परिकहियं ॥135॥

व्यवहारनिर्वाणभक्ति- जो पुरुष मोक्ष में पहुंच गये हैं उनके गुणभेद को जानकर उनकी परमभक्ति करना, सो व्यवहार से निर्वाणभक्ति कही गयी है। इस भक्ति अधिकार में भक्ति के तीन स्थान जानना, परमभक्ति, निश्चयनिर्वाणभक्ति और व्यवहारनिर्वाणभक्ति। व्यवहारनिर्वाणभक्ति तो मुक्त हुए जीवों के परमात्मा के गुणों का स्तवन ध्यान उनके विकास का अनुस्मरण होना, सो व्यवहारनिर्वाणभक्ति है और निर्वाण के स्वरूप की, निर्वाण के मार्ग की भक्ति, उपासना, आराधना होना सो निश्चयनिर्वाणभक्ति है और जिस परमपारिणामिकभाव के आश्रय से, जिस सहजस्वरूप के आलम्बन से निश्चयनिर्वाणभक्ति आती है, उस शाश्वत चित्स्वभाव की दृष्टि अवलम्बन आश्रय अभेद आराधना होना, सो परमभक्ति है।

निर्वाणभक्ति का फल निर्वाणप्राप्ति- इस गाथा में व्यवहारनयनिर्वाणभक्ति का, सिद्धभक्ति का स्वरूप कहा गया है। सिद्ध उन्हें कहते हैं जिन्होंने अपने आत्मा को सिद्ध किया है। सिद्ध का अर्थ टिकने का है। जैसे ये चावल सिद्ध हो गए मायने पक गए। इसी को सीझना कहा गया है। जैसे लोग कहते हैं कि यह सीझ गया, ये चावल अग्नि से सीझ गए अर्थात् अग्नि का संयोग पाकर उस विधिविधान में अपनी कच्चाई की अवस्था को छोड़कर चावल पक्व अवस्था में आ गए हैं, इसको ही लोग भात कहते हैं। अब जो भाने लगा उसका नाम भात है। इस प्रकार यह जीव तप, व्रत, संयम, समाधि के योग से जब कोई कच्चाई का त्याग

करे, सिद्ध परिपूर्ण विकासरूप पक्व अवस्था को प्राप्त हो जाय तब उन्हें सिद्ध कहते हैं। अब ये सिद्ध बड़े-बड़े योगीश्वरों को भाने लगे हैं। सिद्ध से पहिले अथवा संसार अवस्था में तब तक यह जीव रुलता था जब तक यह जीव चैतन्यप्रतपन से सीझ न पाया, भव्यत्वगुण का परिपाक न हो पाया था और तब तक यह भात न था, उपासना के योग्य न था। अब सिद्ध होने पर ये भव्यजन उपासना के योग्य हो गए हैं।

धर्मदृष्टि व धर्मरुचि- जिसकी धर्म की ओर दृष्टि होती है उसको अपने कुटुम्ब और सम्पदा से बढ़कर धर्म और धर्म का स्थान रुचता है। जिसको धर्म और धर्म के स्थान में घर वालों से भी अधिक प्रीति नहीं है, उसे अन्तर में कैसे धर्म का रुचिया कहा जाय? जिस पर रुचि हो उसका ही यह श्रद्धान है। मोक्ष को प्राप्त हुए ये पुरुष जिनका कि स्वरूप, अनुभव, विकासपूर्ण एक समान है, उन आत्मावों को गुणभेद करके जानना, उनमें अनन्तचतुष्टय प्रकट हैं, अष्टकर्मों का उनके विकास है। ये पहिले बलभद्र थे, चक्री थे, तीर्थकर थे, योग्य चर्चा करना, उनके गुणों की दृष्टि देना, उनका स्तवन करना, उनके वर्तमान विकास को स्तवन में लेकर आनन्दमग्न होना, यह सब व्यवहारभक्ति है।

सिद्ध भगवंतों का पूर्व कार्य- ये पुराण पुरुष सिद्ध हुए हैं। उन्होंने सिद्ध होने के लिए क्या काम किया था? सिद्ध होने के उपाय मर्म को न जानने वाले पुरुष तो एक बाहरी वृत्ति को निरखकर कहेंगे कि इन्होंने घर छोड़ा था, तपस्या की थी, जंगल में रहे थे, निर्ग्रन्थ साधु बन गए थे, यों आहार करते थे, यों-यों किया था, मोक्ष जाने वाले पुरुषों ने, किन्तु ज्ञानी पुरुष यह निरख रहा है कि उन्होंने एक ही काम किया था, दूसरा तो कुछ किया ही न था, वह काम था उनका कारणपरमात्मा को अभेदवृत्ति से अपने उपयोग में लेकर परिणमते रहना। वे जिस किसी भी अवस्था में थे, घर में बस रहे थे तो भी सम्यक्त्व में यही काम किया जा रहा था कभी श्रावक बना हो कोई तो वहाँ भी यही काम किया जा रहा था, साधु बनकर भी वही किया जा रहा था। इसके अतिरिक्त जो और कुछ काम करने को पड़े थे व्यवहारधर्म के, वे बड़े दोषों से निवृत्त होने के लिये छोटे दोषरूप होकर भी लक्ष्यसिद्धि की पात्रता के लिये करने पड़ रहे हैं ऐसा निर्णय पूर्वक किया गया था। उन्होंने उन मन, वचन, काय की क्रियावों को ये ही मेरा मोक्षमार्ग हैं, इनके ही आलम्बन से मुझे सिद्धि होगी, ऐसा परिणाम न किया था। यह कारणपरमात्मतत्त्व का अभेद सेवन समस्त कर्मों के क्षय का एकमात्र उपाय है।

व्यवहारालम्बन के प्रयोजन का एक दृष्टान्त- ये मुक्तिगत पुरुष इस कारणपरमात्मतत्त्व की आराधना करके सिद्ध हुए थे, उनके केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त शक्ति इत्यादि गुण भेदों को जानकर जो पुरुष इस परमभक्ति को करते हैं, जो निर्वाण का परम कारण है उस पुरुष के व्यवहारनय से निर्वाणभक्ति होती है। जैसे कोई दूसरी मंजिल पर जाने की इच्छा करने वाला सब सीढ़ियों का आलम्बन करता है, पर उसके लक्ष्य में सीढ़ियों का आलम्बन करना नहीं है। सीढ़ियों का आलम्बन करने का ध्येय उस मंजिल पर पहुंचने का है और इसी कारण सीढ़ियों का आलम्बन करके छोड़ने की पद्धति में हो रहा

है। कोई मोही पुरुष किसी बढ़िया संगमरमर की चित्रविचित्र सीढ़ी को निरखकर उस पर ही खड़ा रहे, ऐसा लोक में शायद न देखा होगा। कोई ऐसा करे तो लोग यह कह बैठेंगे कि इसका दिमाग बिगड़ गया है। ज्ञानी पुरुष की किसी भी व्रत, तप आदि व्यवहारसंयम के साधनों की पवित्रता और शोभा लोकआदर इत्यादि श्रृंगार देखकर कोई पुरुष उस बाह्य व्रत, तप को ही पकड़कर रह जाय, अपनी दृष्टि में क्रियाकाण्ड ही अटकाकर रह जाय तो ऐसे पुरुष को ज्ञानी संतों ने विवेकी नहीं कहा है।

ज्ञानी के व्यवहारावलम्बन का प्रयोजन- ज्ञानी पुरुष के समस्त बाह्य साधनों का आलम्बन उस शुद्ध विकास के लिए होता है अथवा उस शुद्ध विकास का भी प्रयोजन न सोचकर चूँकि भूतार्थ तत्त्व है, यथार्थ बात है इसलिए वे भूतार्थ परमार्थ स्वभाव को जानते हैं, उसका आश्रय लेते हैं। एक वे पुरुष होते हैं जो व्यवहारधर्म की प्रभावना के लिए व्यवहारधर्म करते हैं, एक वे पुरुष होते हैं कि निश्चयधर्म के पालने के लिए व्यवहारधर्म का सेवन करते हैं और एक वे पुरुष होते हैं जिनके चित्त में निश्चयधर्म के पालन का भी विकल्प नहीं है, किन्तु जो सहजस्वरूप है वह जानन से कैसे छूटे क्योंकि उस ज्ञान का आवरण रहा नहीं, इस कारण वे परमतत्त्व को जानते रहते हैं।

व्यवहारधर्म, निश्चयधर्म और परमधर्म- परमधर्म पाला नहीं जाता, परमधर्म के पालने को निश्चयधर्म कहते हैं। वस्तु का जो स्वभाव है उसे धर्म कहते हैं। स्वभाव तो स्वभाव है, शाश्वत है, वह पालनेरूप नहीं है। शाश्वत स्वभाव का जो अवलम्बन लेना है, पालना है उसे निश्चयधर्म कहते हैं और निश्चयधर्म के पालने के लिए जो मन, वचन, काय के शुभ परिणमन करने होते हैं उन्हें व्यवहारधर्म कहते हैं। जिनके परिणामों में ये व्यवहारधर्म रूप शुभ परिणाम भी नहीं हैं, किन्तु चित्त में यश की वान्छा, कुटुम्ब-परिवार के सुख चाहने की इच्छायें जिनके विकल्प हैं उनको लेकर जो धर्म के नाम पर क्रियाकाण्ड हो रहे हैं उन्हें व्यवहारधर्म भी नहीं कहते हैं। लोग इस मर्म को दृष्टि में न लेकर चूँकि व्यवहारधर्म वाले भी जो करते हैं वही काम यह मोही भी कर रहा है। इस कारण प्रवृत्ति की समानता निरखकर लोक में व्यवहारधर्म कहा जाता है। इसका नाम उपचार व्यवहार भी कह लीजिए। यों परमभक्ति के आश्रय में उत्पन्न हो सकने वाली निर्वाणभक्ति के इच्छुक व्यवहारनिर्वाणभक्ति करते हुए जो निश्चयनिर्वाणभक्ति करते हैं वे सिद्ध होते हैं।

मुक्तिवरण का उद्योग- सिद्ध जैसे विविक्त हुए उसको निरखकर और उसके विधि-विधान को अपने लिए सुगम समझकर यह किया जा सकता है और देखो निकट काल में यही तो होना है, ऐसी भावना से हर्ष बढ़ता है। जिसने कर्मसमूह को खिरा दिया है, जो सिद्धि के स्वामी हैं, जो सर्वगुणसम्पन्न हैं, शिवमय हैं, जो स्वयं शिवमय हैं, कल्याण के घर हैं, ऐसे सिद्ध भगवन्तों का नित्य वन्दन करता हूँ। हे मुमुक्षु ! तुम्हें भी यदि मुक्ति का वरण स्वीकार हो तो देखो उस मुक्ति के वरण में बाधक तत्त्व बहुत हैं, उन बाधकों से हटकर उनका मुकाबला करके इस मुक्ति का वरण किया जा सकता है। सो अपनी बरात तो सजा, ज्ञान

की गैसों का उजाला तेज कर ले, बारह भावनावों की प्रबल सवारी पर बैठ लो और निश्चय आवश्यक कर्तव्य का तू अपने प्रदेश में श्रृंगार सजा ले, तिस पर भी एक बात ध्यान में रख, तू अपनी इस बरात में बहुत बड़े बलिष्ठ बरातियों को संग में ले जा, नहीं तो सफलता न मिलेगी। वे बलिष्ठ बराती हैं ये अनन्त सिद्ध। इन अनन्त सिद्धों को अपने संग में, अपने उपयोग में ले जा तो ये बाधक मुक्ति में बाधा न कर सकेंगे। यों इन अनन्त सिद्धों को यह ज्ञानी पुरुष अपने उपयोग में विराजमान् कर रहा है, यह है व्यवहारनय की भक्ति। केवल थोड़ा कह देने मात्र से कि मुझे सुख देना, मेरे दुःख मेटना, तुम सुख न दोगे, दुःख न मेटोगे तो तुम्हारी बान खत्म हो जायेगी, केवल कहने मात्र से आनन्दलाभ न होगा। जिस पथ से जिनेश्वरदेव चलकर मुक्त हुए हैं उस पथ पर कदम रखने से ही सिद्धि होगी। यह है निश्चय निर्वाणभक्ति।

कर्तव्य के भान और पालन का एक दृष्टान्त- जैसे टाइमटेबुल की पुस्तक देखते हैं, अमुक लाइन कहाँ से गई, कितने बजे छूटेगी, कितने बजे पहुंचेगी? ये सब बातें टाइमटेबुल से निरखते हैं, अब गाड़ी चले और बैठें तो पहुंचेंगे और टाइमटेबुल को ही देखते रहें तो कैसे पहुंच जायेंगे? टाइमटेबुल ज्ञात होने पर अपने कर्तव्य का स्पष्ट भान हो जाता है कि इतने बजे तैयार होना है, इतने बजे बैठना है और यों पहुंच जायेंगे और टाइमटेबुल साथ में रहे चलते हुए में भी तो घड़ी को ही देखकर यह सब अंदाजा कर लिया जाता है कि इतनी दूर हम निकल आए हैं, अभी इतनी दूर और जाना है और जब मालूम हो जाता है कि अब 10 मिनट या 15 मिनट के बाद में हम पहुंच जायेंगे तो बिस्तर वगैरह संभाल लेना और पहिले से ही तैयारी कर लेना होता है, ऐसे ही स्वाध्याय, चर्चा, पूजन, भवन, तप, त्याग आदि से अपने कर्तव्य का स्पष्ट भान रहता है। फिर मोक्षमार्ग में कदम रखते भी, चलते हुए भी इस टाइमटेबुल को न छोड़ना, उससे अंदाज रहेगा कि हम कितनी दूर बढ़ गए हैं, अभी कितना चलना है और इस भान में सही-सही गमन होने लगेगा।

कर्तव्य का भान और पालन- भैया ! कहीं ऐसा न हो कि टाइमटेबुल और घड़ी दोनों ही साथ न रहें नींद आ जाय तो कहीं के कहीं भटक जायें। ये हमारे व्यवहारसाधन और हमारी आत्मा का निरीक्षण अपनी घड़ी का देखना- ये दोनों न रहेंगे तो किसी जगह ऐसा न सो जाँ कि उस स्थान पर ही न पहुंच पायें और भटक जायें। इसके भटकने का बहुत बुरा हाल है। थोड़ा चुके और भटके तो भटकने में भटकना बढ़ता चला जाता है। किसी भी प्रसंग में थोड़ा क्रोध आ जाय अथवा कोई हठ बन जाय तो वह क्रोध और हठ कहो कभी धर्म की भी तिलांजलि दिला दे। जैसे कोई गृहस्थ किसी धर्म के प्रसंग में किसी पर थोड़ा नाखुश हो जाय तो कहो हठ कर दे कि अब हम मंदिर ही न जायेंगे, अब हमें कुछ मतलब ही नहीं है मंदिर जाने से और बढ़ता जाय। हठ से धर्म को छोड़कर विधर्मी बन सकता है। तो थोड़ी भी गफलत बहुत बड़ी गफलत बन जाती है। ऐसी प्रमाद की मन में वासना रहनी ही न चाहिए।

आत्मबल का प्रसाद- यह सिद्धपना व्यवहारनिर्वाणभक्ति में निरखा जा रहा है। इस सिद्धि के स्वामी परमात्मा समस्त दोषों से दूर हैं, केवल ज्ञान आदिक शुद्ध गुणों के ये निलय हैं। यह पद इन्हें कैसे मिला? इतनी बड़ी जगह वे कैसे आ गए, किसने मदद की? किसी ने मदद नहीं की। दूसरे की मदद का भ्रम छोड़कर अपने शुद्धस्वरूप का आलम्बन लिया, उस शुद्ध उपयोग के फल में ऐसी सिद्ध अवस्था उनके प्रकट हुई है। जड़ सम्पदा को चित्त में बसाये रहना बहुत बड़ी कलुषता की बात है। जिस हृदय में शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप परमब्रह्म विराजमान् हो उसमें ये रूप, रस, गंध आदि कहाँ विराजेंगे? कितनी अनहोनी बात की जा रही है- बाह्यपदार्थ विराज भी नहीं सकते हैं और इन्हें यह मोही जीव जबरदस्ती बैठाल रहा है और जो यहाँ से दूर नहीं हो रहा, भाग नहीं रहा, उसका आदर नहीं किया जा रहा है। आत्मा के सहजस्वरूप के फल में यह पूर्ण शुद्ध विकास की अवस्था प्रकट हुई है।

सिद्धों का आवास- जो शुद्ध आत्मा लोक के शिखर पर निवास करते हैं, जिन्होंने संकटों से व्याप्त इस भवसमुद्र को पार कर लिया है, जो निर्वाणस्वरूप के अभेदपरिणमन से परम आनन्दमय हो रहे हैं, ऐसे कैवल्य सम्पदा के महागुण वाले पापरूपी वन को जलाने के लिए अग्नि के समान उन सिद्धों को मैं प्रतिदिन नमन करता हूँ। ये सिद्ध प्रभु गुरु होकर भी ऊपर उठ गए हैं, जो वजनदार चीज होती है, गुरु होती है तो वह ऊपर नहीं जाती है, मगर ये सिद्ध सर्वोत्कृष्ट गुरु होकर इतने ऊपर उठे हैं जहाँ के बाद फिर आकाश के सिवाय और कुछ है ही नहीं। इस ज्ञान में त्रिलोक, त्रिकालवर्ती समस्त ज्ञेय प्रतिबिम्बित होते रहते हैं।

अनन्तनिधि की प्राप्ति के लिये त्याग की आवश्यकता- हमारा आनन्द परमस्वाधीन है, किसी भी परतत्त्व की आशा में आनन्द का विघात होता है, आनन्द नहीं मिलता है। जैसे नाबालिक की लाखों की जायदाद सरकार कोर्ट करके 100, 200 रु. माह देवे तो विवेक जगने पर वह इससे संतोष नहीं मानता, ये 100, 200 रु. लाखों की निधि के बाधक हैं, जब तक इनको लेते रहेंगे तब तक निधि नहीं मिल सकती। यों ही आत्मा के अनन्त आनन्द की निधि के बाधक ये विषयसुख हैं। जब तक इन विषयसुखों का ग्रहण किया जाता रहेगा तब तक अनन्त आनन्द की निधि न मिल सकेगी। उनका सुख स्वाधीन है, सहज है, अनन्त है। गुणपुञ्ज का ही नाम सिद्ध है, जहाँ अन्तर्मल और बाह्यमल कुछ भी नहीं रहा है, केवल शुद्ध ज्ञानानन्दघन है, किसी परभव का लेश भी नहीं है, ऐसे शुद्ध चैतन्य का नाम परमात्मा है और जो इसकी उपासना करते हैं वे भक्त भी अपने स्वभाव का आलम्बन करके सिद्ध हो जाते हैं।

भक्ति का फल- जो नित्य हैं, शाश्वत आनन्दधाम हैं ऐसे सिद्ध भगवन्तों की शरण हो अर्थात् उस गुणपुञ्ज की उस ज्ञानप्रकाश की शरण लो। सिद्ध भगवन्त आज हैं नहीं और आज ही क्या, कभी वे सामने न थे। सिद्ध परोक्ष भक्ति कर रहे हों अथवा कभी उपयोग में प्रत्यक्ष भक्ति भी कर सकते हों, सभी भक्तियों में अपने ही उपयोग का चमत्कार है। वे न आते हैं, न देखते हैं, न कुछ मुझमें करते हैं, वे सदा

शिवस्वरूप हैं, श्रेष्ठ हैं, योगीजनों के ध्येय हैं। जो अनुपम मोक्ष सुख का निरन्तर अनुभवन कर रहे हैं, जो भव्यजनों के आदर्श हैं, ऐसे सिद्ध भगवंत जिनके उपयोग में विराजमान रहते हैं वे व्यवहारभक्ति कर रहे हैं और इसके संदर्भ में निश्चयभक्ति करेंगे और निर्वाणपद को प्राप्त करेंगे। यों इस परमभक्ति में प्रथम तो परमस्वभाव के आलम्बन की बात कही गयी है और अब व्यवहारनिर्वाणभक्ति की बात कही गयी है।

गाथा 136

मोक्खपहे अप्पाणं ठविऊण य कुणदि णिव्वुदी भत्ती।
तेण हु जीवो पावइ असहायगुणं णियप्पाणं ॥136॥

निजपरमात्मभक्ति- नियमसार का यह परमभक्ति अधिकार चल रहा है। नियम का अर्थ है- सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र। जो विशेष रूप से आत्मा में संयमन करे, नियमित करे उसे नियम कहते हैं। नियम के प्रतिपादन में यह परमभक्ति अधिकार है, जिसमें मोक्ष और मोक्षपथ में प्रवृत्त होने की भक्ति दर्शायी गयी है। मोक्षमार्ग में अपने को भली प्रकार लगाकर जो पुरुष निर्वाण की भक्ति करता है उस जीव को इस भक्ति के प्रसाद से स्वतः समर्थ, स्वतंत्र, असहाय गुण वाले अपने आत्मा को प्राप्त करता है।

सकामता में अलाभ- जगत में किसी भी ओर चित्त लगावो, शान्ति प्राप्त हो ही नहीं सकती। इसका कारण यह है कि शान्ति का निधान यह आत्मा अपनी शान्ति से हटकर, अपने स्वरूप से चिगकर बाहर में जहाँ शान्ति का लवलेश भी नहीं है वहाँ उपयोग दौड़ाये तो शान्ति कैसे मिल सकती है? यह जीव मोह में कुछ से कुछ कल्पना करके बाह्यपदार्थों का आलम्बन लेकर मौज मानते हैं, किन्तु जगत में प्रत्येक प्रसंग में क्लेशविष भरा हुआ है। कौनसा मौज ऐसा है जो इस जीव को धीर और शान्त बना सकता है? स्पर्शनइन्द्रिय का विषय देखो, वह तो अशान्ति का साधन है, लेकिन व्यामोही जीव मैथुनविषय प्रसंग में अपनी कल्पना में सर्वोच्च सुख समझते हैं और इन व्यर्थ के झंझटों के पीछे बड़ी विडम्बनाएँ मचाते हैं और इतने-इतने कुत्सित आचरण करते हैं कि इसी प्रकरण के कारण अपनी जान तक को भी गँवा देते हैं। कौनसा सुख विषयप्रसंग में मिलता है सारे जीवनभर की चिन्ताएं बढ़ाना, अपने कल्याण से दूर होना, सारी आपत्ति तो है इन विषयप्रसंगों से, किन्तु लोकव्यामोही जीव इसमें ही मौज समझते हैं।

रसनादिक इन्द्रियविषयों की व्यर्थता- रसनाइन्द्रिय का विषय देखो, थोड़ी देर को कोई चीज सरस, स्वादिष्ट लग गयी, उससे बतावो क्या नफा हुआ? शरीर का स्वास्थ्य स्वादिष्ट भोजन पर निर्भर नहीं है, किन्तु चीजों के खाने पर निर्भर है। इस आत्मा को खाने-पीने से संतोष नहीं होता है, वह तो उस बड़े रोग

को मिटाने के लिए अल्परोग की चिकित्सा की जाती है। घ्राणेन्द्रिय का विषय तो बिल्कुल बेकार सी चीज है, सुगन्धित इत्र-फुलेल का सूंघना, इससे क्या लाभ है? चक्षुरिन्द्रिय जो रूप अवलोकन करता है, मन को गंदा करता है उससे लाभ कुछ नहीं मिलता है और विपदाएँ, विडम्बनाएँ अनेक आ जाती हैं, ऐसे ही कर्णेन्द्रिय का विषय सुन्दर राग की बातें सुन ली तो इससे आत्मा ने कौनसी शांति प्राप्त की। यह जीव अशांति से ही तो विषयों की कल्पना करता है, अशांति से ही विषयों को भोगता है और भोगने के बाद भी इसको अशान्ति ही रहती है।

सुभवितव्यता- जिस जीव का भवितव्य अच्छा होता है उसे ही ऐसी सुमति होती है कि स्वपर का यथार्थ भेदविज्ञान होता है और पर से उपेक्षा करके स्व में रत होने का यत्न करता है, इस ही का नाम संयम है। अपना आत्मा अपने आत्मा में नियत कर ले, उपयोग को नियंत्रित कर ले, इसका ही नाम नियम है और यह नियम कैसे प्रकट हो, उसके ही वर्णन में यह नियमसार कुन्द-कुन्दाचार्य देव ने रचा है। इस गाथा में अपने आपके परमात्मा की भक्ति का स्वरूप बताया है। अपने आपको संसार के संकटों से छूटाने के लिये मोक्षपथ में लगाना, यही निज परमात्मा की यथार्थ भक्ति है। हम आप सभी जीव स्वतःसिद्ध स्वयं कारणपरमात्मतत्त्व हैं, किन्तु वहाँ अपने को निरखने की पद्धति एक विशिष्ट होती है। विरुद्ध पद्धति से निरखने पर हम अपने को संसार में रुलाते हैं और स्वानुरूपपद्धति से निरखने पर संसार से छूटकर मुक्ति में पहुंचते हैं।

कारणप्रभु के दर्शन का उपाय- इस कारणपरमात्मतत्त्व को इन इन्द्रियों से नहीं निरख सकते हैं। यह प्रभु इन्द्रियों का विषयभूत नहीं है। इसे मन से भी नहीं निरख सकते हैं। इन्द्रिय और मन दोनों की कल्पना को त्यागकर केवल शुद्ध ज्ञान प्रकाशमात्र अपने आपको निरखने में लगे तो यह कारणपरमात्मतत्त्व हमें दर्शन देगा और हम अपने आपमें विराजमान् कारणप्रभु को निरखने लगे तब किसी भी प्रकार की आकुलता नहीं रह सकती।

लाभ में स्वयं के उद्योग का विवरण- भैया ! अब तक बहुत-बहुत परिश्रम करके सुख पाने का उद्यम किया है, अब कुछ ज्ञानात्मक उद्यम करके भी निरखिये और जानिये कि वास्तविक शान्ति किस उद्यम में है? ये बाहरी ठाठ-बाट हमारी आपकी कल्पना से नहीं उत्पन्न होते हैं। यह तो पूर्वभव में जो धार्मिक आशय किया था, विचार-आचार शुद्ध किया था उसके फल में जो पुण्यबंध हुआ उसका यह फल है। आप थोड़ा श्रम करें तो उतना ही मिलेगा और बहुत श्रम करें तो भी उतना ही मिलेगा, बल्कि अधिक परिश्रम न करके एक ज्ञान-ध्यान में अपना उपयोग विशेष लगाएँ तो पुण्यरस बढ़ेगा और यह ठाठ चतुर्गुणित हो जायेगा, लेकिन इस व्यामोही जीव को इस जड़ सम्पदा में इतना आकर्षण है कि वह धीरता की बात आ ही नहीं सकती।

परचेष्टा से स्वहित की आशा का अभाव- समस्त समागम, यह सांसारिक सम्पदा, ये सब पुण्य-पाप के आधीन हैं। अपना वश चल सकता है तो एक भावों के शुद्ध करने में चल सकता है। इस सम्पदा की प्राप्ति हो ही जाय, ऐसी हमारे वश की बात नहीं है। आपकी आधीनता तो आपके परिणामों के शुद्ध करने में है। अपना ज्ञानबल बढ़ायें तो फिर आनन्द ही आनन्द है। मान लो, कदाचित् धन बढ़ जाय तो उससे लाभ क्या है और धन कम हो जाय तो उससे हानि क्या है? किन्हीं मायामयी पुरुषों ने निन्दा अथवा प्रशंसा के शब्द बोल दिये तो उसमें कौनसी हानि अथवा लाभ हो गया? मान लो, यह सारा जगत कुछ न पूछे, न कोई प्रशंसा की बात कहे, कोई सम्बन्ध भी न रक्खें, कैसी भी स्थिति होवे तो उससे हानि-लाभ क्या है? कुछ नहीं है। यदि अपने आपके परिणामों में शुद्ध ज्ञानप्रकाश है, अपने कारणपरमात्मतत्त्व का झुकाव है तो वहाँ शान्ति प्राप्त होती है और किसी पुरुष का, नेता का सारा देश बड़ा स्वागत करे, लेकिन उसके परमात्मतत्त्व की ओर झुकाव नहीं है तो वह उसका सारा स्वागत व्यर्थ है, उसकी तो परेशानी ही रहेगी।

निश्चय निर्वाणभक्ति- जो जीव परपदार्थों में दृष्टि न देकर अपने आपमें ज्ञायकस्वभावरूप अंतस्तत्त्व का अनुभव करते हैं, आलम्बन करते हैं उनके ही निश्चयरत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग ठहरता है। जिस रत्नत्रय में भेद की कल्पना नहीं है, यही है ज्ञानप्रकाश, इसको ही निरखना, इसमें ही रत होना, निर्विकल्प होकर केवल ज्ञानानुभव करके परमतृप्त रहना, ऐसे आनन्दस्वरूप रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग में जो जीव लगता है वह अपने आत्मा की सिद्धि करता है, संकटों से मुक्त हो जाता है, जिन पुरुषों ने इस निरन्जन निज परमात्मतत्त्व के अनुभव के आनन्दामृत का पान किया है और इससे तृप्त होकर समस्त अनात्मतत्त्वों से उपेक्षा की है वे ही पुरुष मुक्ति की परमभक्ति कर सकते हैं। ये संसार के समस्त समागम, उपद्रव, बन्धन, सम्बंध छूटे हुए देखें और इससे छुटकारा पाने का परिणाम करें तब तो छुटकारा मिल सकता है। कोई दुःखों के साधनों को संचित करता जाय, दुःख भोगता जाय और यह दुःख है इतना भी न मालूम करे तो इससे बढ़कर और अंधकार क्या हो सकता है?

भेदविज्ञान का प्रताप और परिपाक- ये भव्य जीव भक्ति गुण के प्रसाद से निरावरण सहज ज्ञानस्वरूप स्वतंत्र इस आत्मा को प्राप्त कर लेते हैं, यह सब प्रताप भेदविज्ञान का है। जैसे एक कहावत में कहते हैं कि गुरु और प्रभु, इन दोनों में बलिहारी अपने गुरु की है जिसने प्रभु का दर्शन कराया है ऐसे ही भेदविज्ञान और कारणपरमात्मतत्त्व का अनुभव, इनमें भेदविज्ञान तो गुरु है और आत्मानुभव देव है। उस गुरु की बलिहारी है, उस भेदविज्ञान का यह परमप्रसाद है जिसके प्रताप से हम आत्मानुभव कर सकते हैं। भेदविज्ञान के लिए वस्तु के स्वतंत्रस्वरूप के भान में रहना चाहिये। प्रत्येक पदार्थ कितना है? वह अपने द्रव्यगुण पर्यायरूप है, अपने स्वरूप से है, पर के स्वरूप से नहीं है, अपने का ही कर्ता है, पर की

परिणति का कर्ता नहीं है; अपने ही परिणमन का भोक्ता है, पर के परिणमन का भोक्ता नहीं है, ऐसा स्वतंत्र प्रत्येक पदार्थ दृष्टि में आने लगे तो समझिये कि मेरा भेदविज्ञान परिपक्व हुआ है।

विडम्बनावों का मूल कारण- भैया ! जितनी विडम्बनाएँ होती हैं वे सब कर्तृत्व, स्वामित्व और भोक्तृत्व बुद्धि से होती हैं। मैं इन पदार्थों का मालिक हूँ, यह मिथ्या आशय हो तो क्लेश होना प्राकृतिक है। मैं अमुक कार्य को करने वाला हूँ, ऐसी कर्तृत्व बुद्धि हो तो क्लेश होना प्राकृतिक है। मैंने ऐसा आराम भोगा, विषय भोगा, इस प्रकार के भोक्तृत्वबुद्धि का आशय हो तो क्लेश होना प्राकृतिक है। कौन किसका स्वामी है? पूर्व के अनेक भवों में कितनी सम्पदा पायी होगी, कितना राज्य पाया होगा, जिस सबके समक्ष आज की पाई हुई सम्पदा न कुछ की तरह है, पर उसमें कुछ भी आज नहीं है और अब भी जिसके पास है वह मरने पर साथ कुछ भी न ले जा सकेगा, लेकिन यह संतोष करता है व्यामोह में कि हम इस सम्पदा को साथ न ले जायेंगे तो हमारे बाल बच्चों के पास तो रहेगी। अरे मरने पर बाल बच्चे फिर तेरे क्या रहे? न जाने तू कहाँ पैदा होगा? न तेरी कल्पना में तेरे घर के लोग कुछ रहेंगे और न उनकी कल्पना में तू कुछ रहेगा। क्या सम्बंध है? कुछ ज्ञानचक्षु खोलना चाहिए और परजीवों के लिए ही अपना जीवनभर श्रम न करना चाहिए। अरे उनका भवितव्य ठीक है तो हो जायेगा, इन बच्चों के भाग्य से ही तो तुझे नौकरी करनी पड़ रही है। उन बच्चों के पुण्य के उदय से यह सम्पदा इकट्ठी हो रही है, तो इसका अर्थ यही है ना कि आपने बच्चों की नौकरी की है, अपना काम क्या निकाला है?

चिदानन्दभगवान के विरोध में अलाभ- अपने इस चैतन्यस्वरूप को ही अपना सर्वस्व मानो। जितनी हम इसकी सेवा कर लेंगे, जितना हम इसका आश्रय कर लेंगे उतना तो ज्ञानबल हमारे काम का है और बाकी जितने विकल्पजालों में उलझते रहेंगे उतनी ही हमारे लिए विपदा है, ऐसा जानकर अब मोक्षपथ में अपने को लगावो, अपनी सेवा करो। अपनी सेवा यही है कि मोह, राग, द्वेष के कष्टों से छुटकारा पावें और ज्ञानानुभव का असीम आनन्द भागें, यही वास्तविक अपनी सेवा है। कितना गहन मोहांधकार है? आपके बच्चे से भी अधिक रूपवान, कलावान कोई बच्चा है, पर उसमें प्रीति नहीं होती है, किन्तु अपना बच्चा चाहे अज्ञानी हो, कलाहीन हो, आज्ञा न मानता हो, पर उससे बड़ी प्रीति रहती है। ये एक व्यामोह का ही तो परिणाम है।

व्यामोह से स्वपर का बिगाड़- व्यामोह करने से न दूसरे का भला होता है और न खुद का भला होता है। जैसे लोग कहते हैं ना कि बच्चे से लाड़ अधिक करोगे तो बच्चा बिगड़ेगा और ऐसा देखा भी जाता है कि जो लोग बच्चे से अधिक मोह स्नेह लाड़ करते हैं वह बच्चा न विशेष पढ़ पाता है और न सद्व्यवहार, सद्वचन बोलने वाला हो पाता है। बुद्धिमान लोग लाड़ भी करें तो प्रकट लाड़ नहीं करते हैं ताकि बच्चे पर दुष्प्रभाव न हो। लाड़ करके बच्चों को भी बिगाड़ा गया और खुद का भी बिगाड़ किया, क्योंकि वह प्रतिकूल बनेगा तो यह भी तो दुःख मानेगा। तो लोक में भी तो प्रत्यक्ष यह बात नजर में आ रही है कि लाड़ में,

मोह में दोनों ओर से हानि है। अध्यात्ममार्ग में आचार्य, ऋषि, संत यहाँ जो कह रहे हैं वह यथार्थ सत्य है। रागद्वेष, मोह करके न किसी दूसरे जीव का भला कर सकेंगे और न स्वयं का भला कर सकेंगे।

आत्मप्रयोग का आनन्द- जो पुरुष अपने स्वरूप को परख कर उसमें अविचल रहते हैं, अपने आपको इस निरुपम सहज ज्ञानदर्शनात्मक चित्रकाश में लगाते हैं वे आत्मा इस चैतन्यप्रभु की भक्ति द्वारा इस श्रेष्ठ आत्मगृह को प्राप्त कर लेते हैं। जहाँ किसी भी प्रकार की विपदा नहीं है, जिस बात के बोलने से दूसरे भी अच्छा माने, महान् समझें उस बात के कर लेने में कितनी महत्ता और कितना आनन्द होगा, इसका अनुमान करो। देखो- भगवान के सामने मुख से मोह और राग की बातें नहीं बोल सकते हैं, लोग सुनेंगे तो अच्छा न मानेंगे। जैसे हम प्रभु के आगे स्तवन में यह कहते हैं कि 'हे प्रभो ! आत्म के अहित विषयकषाय इनमें मेरी परिणति न जाय' इसको हम जोर से बोलते हैं, सुनने वाले सुनते हैं, बोलने वाला भी प्रसन्न होकर बोल रहा है, चाहे मन में कुछ हो, चाहे मन में धनलाभ, यशोलाभ कुछ भी बसे हों, जिससे प्रेरित होकर यह पूजन कर रहा है, लेकिन मुख से सबके समक्ष यह नहीं बोल सकते कि हे प्रभो ! आज हमें इतना मुनाफा हो, मेरे लड़के खुश रहें, मुझे खूब विषय मिलें, ऐसा कोई भजन भी बनाकर नहीं बोलता है और कोई बोलेगा ऐसा तो सब उसे पागल कहेंगे। चाहे मन में मोह की बात बसी हो, पर भगवान के आगे बोल नहीं सकता, न किसी को सुना सकता है, तो इससे यह जानो कि वह बात गंदी है जिसे हम मंदिर में लोगों के सामने बोल नहीं सकते। वह कष्ट का कारणभूत है, जिस बात को हम प्रसन्नता के साथ गा बजाकर बोलते हैं प्रभु के समक्ष, यदि ऐसी परिणति स्वयं की बन जाय तो उसके आनन्द का क्या ठिकाना?

पछतावा की बुद्धि- इन परिजनों के स्नेह में कितना अपने आपको बरबाद किया है? इस जड सम्पदा के मोह में अपने आपका कितना पतन किया जा रहा है? इसका पता मोह में नहीं लग सकता है। जब तत्त्वज्ञान जगता है तब ही भूल का पछतावा होता है। ओह ! इतना जीवन हमने व्यर्थ ही गँवा डाला अथवा जब मरणकाल होता है तो इसे कुछ विवेक होता है। ओह ! 40, 50 वर्ष की उमर मैंने व्यर्थ ही खो दी है। न कुछ लाभ हुआ, न शान्ति हुई। अब अशान्त होकर, हानि में रहकर यहाँ से जा रहा हूँ, क्या होगा अब? उसका तब पछतावा होता है। मोह में भूल का पता नहीं पड़ता है, भूल मिटे तब ही शान्ति हो सकती है। शान्ति तो ज्ञानसाध्य है, धनसाध्य नहीं है, शुद्ध ज्ञानप्रकाश अंतरंग में जगे तो वहाँ शान्ति अवश्य होगी।

विविक्त निजप्रभु का आश्रय- मैं सबसे न्यारा हूँ, केवल ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र हूँ, ऐसी दृष्टि होना इस ही के कारण ज्ञानप्रकाश है, यह केवल एक नजर द्वारा ही साध्य है, कुछ श्रम नहीं करना है, किसी पर की आधीनता नहीं है। अपने भीतर एक ऐसी नजर डाल लो कि यह तत्त्व दिखने लगेगा। जो समस्त पर से भिन्न है और अपने स्वरूप में तन्मय है, ऐसे इस शुद्ध स्वरूप की उपासना में अपने परमात्मतत्त्व की

शोभा है, सेवा है और यही अपने उद्धार का करना है। अब रही-सही जिन्दगी में एक बड़े पुरुषार्थ प्रयत्नसहित इस ज्ञानानन्दस्वरूप निज कारणपरमात्मतत्त्व की सेवा करें, यही सच्ची परमभक्ति है।

गाथा 137

रायादीपरिहारे अप्पाणं जो हु जुंजदे साहू।

सो जोगभक्तिजुत्तो इदरस्सय कह हवे जोगो॥137॥

योगभक्ति- इस परमभक्ति अथवा निर्वाणभक्ति का दूसरा नाम योगभक्ति भी है। अपने आत्मा को रागादिक के परिहार में लगाना और सहज आनन्दस्वरूप निज आत्मतत्त्व में उपयोग को जोड़ना, इसका नाम है योग। जो इस योग की उपासना करता है वह पुरुष योगभक्ति करिके सहित है। स्वरूप से विचलित होने वाले जीव के योग नहीं हो सकता है। जब यह आत्मा पर को पर जानकर, पर से उपेक्षा करके सहजस्वरूप में सहज विश्राम करता है अर्थात् जहाँ यह ज्ञानपरिणमन एक ज्ञानाकार ही रह जाता है, ऐसी परम समाधि के बल से यह योगभक्ति प्रकट होती है, जिसमें समस्त मोह, राग, द्वेष आदिक परभावों का परिहार है।

परभावविविक्तता की योग्यता के निर्णय की आवश्यकता- जिस जीव को रागादिक दोष दूर करना हो, उसे पहिले यह तो समझ लेना चाहिए कि मेरे से रागादिक दूर हो सकते हैं या नहीं। मेरे से रागद्वेषादिक दूर हो सकते हैं, इसकी समझ के लिए यह जानना आवश्यक है कि मेरा स्वरूप ही रागद्वेषादिक से पृथक है। यदि मैं रागद्वेषादिकरूप ही होऊँ, मेरा स्वभाव ही रागद्वेष करने का हो, तो फिर ये रागद्वेष कभी दूर नहीं हो सकते हैं। इसलिए यह जानना सर्वप्रथम आवश्यक है कि मैं रागादिक विकारों से न्यारा केवल शुद्धचैतन्यस्वरूप हूँ, इतनी बात ध्यान में आये तब धर्म करने की बात जीभ से हिलाना कि अब मैंने धर्म किया, धर्म कर रहा हूँ यह बात तब समझो जब अपने आपमें यह निर्णय हो जाय कि मैं आत्मा रागद्वेषादि विकारों से विविक्त केवल शुद्ध चैतन्यस्वरूप हूँ। अब अपने-अपने अंतःकरण में निर्णय कर लो कि रातदिन का सारा समय हम किस प्रकार का अनुभव करने में गुजार रहे हैं? मैं इस घर वाला हूँ, इतने बच्चों वाला हूँ, ऐसी पोजीशन का हूँ, मैं धनपति हूँ, अमुक नाम वाला हूँ, मोटा दुबला हूँ, कितने प्रकार की वासनाएँ अंतःकरण में रातदिन रहा करती हैं, यदि यह बोझ लाद रहे हैं तो अपने को धर्ममय कबूल मत करो। स्वरूपप्रतीति बिना धर्म करते हुए भी, मंदिर दर्शन सत्संग करते हुए भी यह जानो कि अभी हमने धर्म नहीं किया।

धर्म के समझ की पात्रता- भैया ! अपना विवेक बनावो कि मुझे धर्म करना है। धर्म के बिना यह जीवन सुखमय नहीं हो सकता है। पापमय जीवन से कोई भी प्राणी सुखी हो ही नहीं सकेगा, क्योंकि पाप-परिणाम स्वयं आकुलताओं को उत्पन्न किए हुए है। कोई कुत्ता किसी के रसोईघर में चोरी से घुस जाय तो कैसा आंखें बचाकर चुपके से रोटी उठाकर भाग जाता है और धीरे से किसी एकांतस्थान में जाकर कायरता से, आसक्ति से वह रोटी को खाता है, यह भी देख लो जब कभी आप ही खुद किसी कुत्ते को बुलाकर रोटी डाले तो कितना पूँछ हिलाकर और कैसे पंजे फटकारकर और मुख की प्रसन्नता बताकर प्रेम से रोटी खाता है। किसने सिखाया उस कुत्ते को कि यह चोरी का पाप है और यह बुरा काम है? उसका अन्तःकरण खुद जानता है कि मैं पापकार्य कर रहा हूँ, यह मेरे करने योग्य नहीं है इसीलिए वह खेदखिन्न होकर चोरी की रोटी खाता है और जहां न्यायपूर्वक रोटी मिल रही है वहाँ रोटी प्रसन्नता से खाता है, तो पापमय परिणाम से किसी भी जीव को शान्ति नहीं मिल सकती है।

पुण्यपाप के फलरूप सांसारिक घटनायें- जो लोग धन सम्पदा बढ़ाने के लिए अन्याय करते हैं और मन में छल-कपट का जाल गूँथते हैं वे अंतः कभी प्रसन्न और सन्तुष्ट न हो सकेंगे। सम्पदा छल के कारण नहीं आती है, किन्तु जैसा उदय है पूर्व पुण्य का उसके अनुसार सम्पदा मिलती है। घसियारे लोग दिनभर श्रम करते हैं और अन्त में उन्हें एक रुपया ही नसीब होता है और कितने ही लोग आराम से एक दो घंटा ही काम देखते हैं और उसी में सैकड़ों हजारों का मुनाफा पाते हैं। भले ही कोई देश आज समता के नाम से एक व्यवस्था बनाए कि सब लोग एक से समान रहें, कोई कम बढ़ धनी न रहे, सबके पास एक-सी विभूति रहे, कोई भी देश कितना भी इन बातों के लिए प्रबन्ध करे, किन्तु किसी के पुण्य, यश आराम को कोई बना सकता है क्या? जो साम्यवाद का दम भरते हैं ऐसे देशों में भी प्रेसीडेंट और मिनिस्टर कैसी शान से रहते हैं, कितनी उन्हें मौज है, कितनी सलामियाँ मिलती हैं और कितना वैभव है और जो चपरासगिरी का काम करते हैं उनकी क्या हालत है, उनकी क्यों नहीं समता बनायी जा सकती है?

भावना से साम्यभाव का विस्तार- अरे समता तो भावों से बनाएँ तो बनेगी। बाहरी सम्पदा के छिन्न-भिन्न करने से समता नहीं बनती है। आध्यात्मिक ज्ञान का विस्तार हो और मिली हुई समस्त सम्पदा से विविक्त अपने स्वरूप का ध्यान हो व इसी प्रकार समस्त जीवों में स्वरूप का निर्णय हो तो वहाँ समता प्रकट हो सकती है। ज्ञानी गृहस्थ तो यह जानता है कि मेरे पास तो एक धेलामात्र भी सम्पदा नहीं है। समता तो समता में है। मैं तो सबसे न्यारा केवल ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र हूँ। रही एक साम्यवाद बनाकर लोककल्याण की बात। तो जहाँ ज्ञान में समता आ जायेगी वहाँ धन सम्पन्न लोग स्वयं ही अपने उदार भावों से लोककल्याण में सम्पदा का वितरण कर लेते हैं, किया है और कर रहे हैं। लोगों को सताकर लोककल्याण के लिए समता छीनकर या करों द्वारा पैसा इकट्ठा करना यह सुखविस्तारक काम नहीं है,

किन्तु लोक में ज्ञान की प्रगति कराकर उन्हीं की ही ओर से लोककल्याण के लिए वे स्वयं मुक्तहस्त से, उदारभावों से द्रव्य प्रदान करें, उसमें शोभा सबकी है। समतापरिणाम भावों से बनाना चाहिए। बाहरी चीजों की व्यवस्था करके समता नहीं बनायी जा सकती है।

अन्तर्ज्ञान बिना संतोष का अभाव- भैया ! यह भी जानना चाहिए कि कोई पुरुष बाहरी सम्पदा की व्यवस्था बनाकर संतुष्ट होना चाहे तो संतुष्ट हो नहीं सकता है, जैसे किसी तराजू पर जिन्दा मेंढकों को तौलना कठिन है, एक किलो जिन्दा मेंढक जरा तौलकर दिखा दो, नहीं दिखा सकते हो ना। नहीं दिखा सकते हो ना। एक रक्खोगे तो एक उछल जायेगा, दूसरा रक्खोगे तो फिर कोई उछल जायेगा, तौल न सकोगे। ऐसे ही धन, सम्पदा, मकान, दुकान, इनकी व्यवस्था बनाकर अपने में संतोष लाने की बात उससे अधिक कठिन है। इससे कर्तव्य यह होना चाहिए कि वर्तमान में जो समागम है उस समागम में ही अपनी व्यवस्था बनाकर धर्मपालन के लिए यत्न करें, इससे तो विजय होगी और बाहरी बातें हम कुछ अनुकूल बना लें, कुछ व्यवस्था बना लें तब मौज से इकट्ठी धर्मसाधना करेंगे, ये उसकी स्वप्न की कल्पनाएँ हैं। जब इस ही समय अपने शक्ति माफिक धर्मपालन का परिणाम नहीं है तो भविष्यकाल में धर्मपालन के परिणाम की क्या आशा की जा सकती है? इससे इन बातों को रंच भी महत्त्व न दो। क्या सम्पदा है, क्या स्थिति है?

ज्ञान की संभाल में धर्म का अधिकार- यदि कोई खोमचा चलाकर भी अपना गुजारा करता हो तो वह भी उतने ही धर्म का अधिकारी है, उतना ही पात्र है जितना कि धनसम्पन्न पुरुष है। पुण्य भावों से उत्पन्न होता है, किन्तु यदि कोई धनसम्पन्न होकर भी कंजूस प्रकृति का है तो उसके भाव बढ़ ही नहीं सकते, अतएव पुण्य नहीं होता। कहीं पैसे के रखने देने में पुण्य की बात नहीं है, भावों से पुण्य का बन्ध है। कोई सम्पन्न होकर व्यय न कर सके, त्याग न कर सके तो उसके परिणामों में उज्ज्वलता भी प्रकट नहीं हो सकती है, क्योंकि तृष्णा से रंगा हुआ है ना और एक गरीब पुरुष जिसके पास कुछ भी नहीं है वह अपनी शक्ति माफिक दो पैसे भी कहीं लगाता है तो वह उस कृपण धनी की अपेक्षा अधिक धर्म का अधिकारी है। सर्वत्र परिणामों की विशेषता है।

सहजस्वरूप के उपयोग में योगभक्ति- भैया ! ऐसा निर्णय करो कि यह सम्पदा कमाने से नहीं आती। यह तो पुण्योदय के अनुसार बिना विचारे ही अनेक उपायों से आ जाती है। इसकी तृष्णा क्या करना? इस ओर से संचय का परिणाम हटाकर अपने आपके इस ज्ञानस्वभाव की दृष्टि और इस ही परमार्थभक्ति में उपयोग लगाना चाहिए। जो जीव इस प्रकार सहजस्वरूप में उपयोग लगाते हैं वे निश्चयभोगभक्ति करते हैं। अपने को अपने में जोड़ लेना, इस ही का नाम निश्चययोग है। इस परमश्रवण, परमसमाधियुक्त साधु के निश्चययोग से हो रहा है। बाह्यपदार्थों में व्यासक्त कोई पुरुष इस योग का पात्र नहीं है। इस योग में ही कल्याण है और इस ही में आत्मा की समृद्धि है। योगभक्ति कहिये अथवा उपयोगभक्ति, शुद्ध निश्चयन से

जो सहजस्वरूप की भक्ति है उसे जो साधु करता है उसके ही कर्ममल दूर होते हैं। अन्य जन जो बाह्य प्रपंचों का सुख भोगना चाहते हैं उनके योगभक्ति नहीं हो सकती है।

व्यवहारचारित्र का योग- व्यवहारचारित्र में योग नाम है- तपस्याओं का। क्लेश सहते हुए ध्यान से न चूकना, इसको योग कहते हैं। वर्षाकाल में जहां बिजली तड़क रही हो, मेघमाला बरस रही हो, विकट अंधेरा हो, ऐसे वर्षाकाल में योगी वृक्ष के नीचे अपने ध्यान में मग्न हो रहे हैं ऐसे इस व्यवहारयोग के समय में उन साधुजनों के निश्चय अध्यात्मयोग होता है और उस अध्यात्मयोग के कारण वे योगी कहलाते हैं। जाड़े के दिनों में जहां कि शीतवात चल रही है, शीत का विशेष प्रकोप है, शीतऋतु के कारण वृक्ष भी जल गए हैं ऐसे शीतकाल में नदी के तट पर स्थित पद्मासन अथवा खड्गासन से जो निज सहजस्वरूप का उपयोग कर रहे हैं उनके निश्चययोग होता है। गर्मी के दिनों में कितने ही दिनों तक आहार न हुआ हो भूख और तृषा दोनों की वेदनाएँ हों शरीर में, किन्तु इन वेदनाओं की ओर जिनका रंच ध्यान नहीं है, शरीर से भिन्न ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्व में ही जो हित समझते हैं और इसी कारण इस विविक्त आत्मतत्त्व के लाभ के लिए ही जिसका विचार और चिन्तन चलता है, ऐसा योगी बड़ी तेज गर्मी में जहां लू की लपट की मार है, दसों बार पानी पीने वाले जहां प्यासे रहते हैं, ऐसे प्रबल ग्रीष्मकाल में पर्वतों के शिखर पर एकाकी ध्यानमग्न हो रहे हैं। अध्यात्म में उपयोग होने से जिनका प्रबल योग चल रहा है, ऐसे योगी पुरुष के योगभक्ति होती है।

बाह्य प्रपंच के जुड़ाव में योगभक्ति का अभाव व दुर्गति की पात्रता- जो साधु के नाम पर किसी भी भेष को रखकर केवल एक खानेपीने का यश लूटने का ही जिनका ध्यान रहता है, जो अपनी प्रशंसा के लोलुपी हैं, जिनका उद्देश्य लोक में अपना नाम जाहिर करने का है, जो सुन्दररूप देखने, स्वादिष्ट खाने-पीने, सुहाती सुरीली चीज रागभरी बोली सुनने के लम्पटी हैं, जो गुप्त पाप करके सुख लूटना चाहते हैं, ऐसे बाह्य प्रपंचों में, उनके सुख में जिनकी बुद्धि लगी है उनके कहां से योग होगा? शास्त्रों में लिखा है कि इस पंचमकाल में अनेक साधु और अनेक उनके सेवक श्रावक नरकगति में व निगोद में जायेंगे। ऐसा क्यों होता है? जो साधुभेष रखकर अपने इन्द्रियविषयों और मानसिक विषयों के सुख के ही लोलुपी हैं उनके आत्मध्यान कहां होता है? कोई गृहस्थ भी बहुत पाप करता है, बाह्य सुखों में मग्न रहता है, लेकिन अपने बारे में मैं धर्मात्मा हूं, साधु हूं, ऐसी प्रसिद्धि नहीं रखता, इस कारण पाप करता हुआ भी उसके मायाचार का दोष नहीं लगता, किन्तु जो गृहस्थ जैसा ही दिल रक्खे, गृहस्थ जैसा ही भोग और सुख चाहे अंतरंग में और बाह्य में भेष रख ले साधु का तो मायाचार का दोष लगता है। ऐसे मायाचारी साधु और उनके भक्त दुर्गति में ही जाते हैं।

धर्मवेश की ओट में मायाचार का दुष्परिणाम- कुसाधु व उनके भक्तों की दुर्गति का यह दूसरा कारण है कि जो धर्मपद मोक्षमार्ग के लिए था उसको कलंकित किया है और धर्मप्रभावना को नष्ट करके इतना

अनर्थ किया है लोगों का कि लोगों को सन्मार्ग पर चलाने का उत्साह नहीं रह गया। हर एक कोई उदाहरण लिया करते हैं। अरे इस धर्म में क्या फायदा है, सब ढोंग है। देखो फलाना यों हुआ था यों हो गया। धर्म का भेष रखकर फिर धर्म की अप्रभावना के कार्य करना और अपने स्वार्थ भरे कार्यों को करके लोक में शुद्ध धर्म से जीवों की श्रद्धा हटा दे, यह कितना बड़ा अनर्थ और पाप का कार्य है? यही कारण है कि साधुभेष रखकर, ज्ञानी रहकर, विषयों के मौज का ही ध्यान बनाकर जो मायाचार का और धर्म की अप्रभावना का पाप करता है उसे दुर्गति में ही जाना पड़ता है और ऐसे पुरुषों की भक्ति कोई विवेकी बुद्धिमान् नहीं कर सकता। कोई पुरुष जो स्वयं भी पापों का रुचिया हो वही ऐसे साधुओं की संगति और भक्ति में रहेगा। जब दोनों का ही अनर्थ हो, जहां निश्चय अध्यात्मयोग की सुध नहीं है। वहां कोई अपना हित कैसे कर सकेगा?

परमभक्ति में शुद्ध ज्ञानपुञ्ज की उपासना- परमभक्ति अधिकार में उत्कृष्ट भक्ति का वर्णन चल रहा है। उत्कृष्ट तत्त्व है यह शुद्ध ज्ञायकस्वरूप। भगवान की भी हम जो उपासना करते हैं उसमें भी शुद्ध ज्ञानपुञ्ज की उपासना करते हैं। कोई उपासक चाहे किसी एक नाम से तीर्थकर की उपासना कर रहा हो, किन्तु उपासक के समता बुद्धि होती है। एक तीर्थकर को पूजकर भी शुद्ध ज्ञायकस्वरूप ही उसके लक्ष्य में बसा करता है। वहां यह हठ नहीं है कि मैं तो शान्तिनाथ को ही पूजूंगा और किसी भगवान को नहीं। जहां यह हठ नहीं है वहां शुद्ध ज्ञायकस्वरूप की भक्ति है। अन्तरंग में यदि यह परिणाम है कि शान्तिनाथ अमुक के पुत्र हैं और इतने बड़े शरीर के हैं, इस कुल के हैं, उनको मैं पूजता हूं तो यह सच्ची भक्ति नहीं है, किन्तु वह वीतराग है, ज्ञानानन्द का परमविकास है, इस नाते से पूज रहा हूं। यह उसकी सच्ची भक्ति है। जैसे किसी श्रावक भक्त के किसी नामधारी त्यागी और साधु में भक्ति जगे और यह हठ बने कि मैं तो अमुक नाम वाले को ही मानूंगा। नाम के नाते से माने तो उस श्रावक की वास्तविक भक्ति न कहला सकेगी। यद्यपि सब आखिर नाम वाले ही मिलेंगे, बिना नाम का व्यवहार नहीं चलता तो भी ये अमुक साधु हैं, अमुक नाम के हैं, नाम भी लेते जावो, किन्तु यह रत्नत्रय का विकास है, रत्नत्रय ही धर्म है, उस रत्नत्रय के विकास के नाते से जो भक्ति संगति होगी वह है गुरुभक्ति। ऐसे ही रागद्वेषरहित ज्ञानानन्द के चरम विकास के नाते से यदि देव की भक्ति है, तीर्थकर की भक्ति है तो वह है देवभक्ति।

व्यवहारभक्तियों में भी आत्मस्वरूपभक्ति का प्रवेश- कोई ज्ञानी पुरुष देवभक्ति कर रहा हो तो वहाँ भी आत्मस्वरूप की भक्ति है। कोई गुरुभक्ति कर रहा हो तो वहाँ भी आत्मस्वरूप की भक्ति है और धर्मसाधक जितनी भी क्रियाएँ कर रहा हो उन सबमें भी आत्मस्वरूप की भक्ति है। जैसे आपके पास कोई आपका मित्र बैठा है, कोट, कमीज, टोपी आदि पहिने हुए, आप उससे प्रेमपूर्वक वार्तालाप कर रहे हैं और उसके ऊपर कोई चींटी या पुराल आदि का तिनका पड़ जाय तो आप उसे हटा देते हैं तो क्या आप उस मित्र के कपड़े की भक्ति कर रहे हैं? आप तो उस मित्र के प्रेम के कारण उस तिनके या चींटी को हटाते हैं।

किसी घर के बड़े पुरुष की टोपी किसी खूँटी पर टंगी हो और वह गिर जाय धूल में तो आप उसे उठाकर झाड़ते हैं, कुछ अपना सिर नवाते हैं और उसी खूँटी पर टाँग देते हैं तो क्या आप उस टोपी की भक्ति कर रहे हैं? अरे आपकी भक्ति है, आपका अनुराग है उस महापुरुष से, सो आप उस महापुरुष की भक्ति कर रहे हैं। किसी त्यागी की चदर किसी जगह गिर जाय तो आप कितना पछतावा करते हैं और उसे धोकर रखते हैं, क्या आप उस चदर की भक्ति कर रहे हैं? मूल में निरखिए। अरे आपका अनुराग तो उस त्यागी से है, सो आप उस त्यागी की भक्ति कर रहे हैं। ऐसे ही यह ज्ञानी पुरुष भगवान की मूर्ति के सामने खड़े होकर वंदन नमस्कार करता है तो क्या वह पत्थर का वंदन कर रहा है? मूर्ति तो पत्थर की है? क्या वह पीतल का वंदन कर रहा है? नहीं। वह तो ज्ञानविकासको वंदन कर रहा है।

सावलम्ब ज्ञानियों के देवभक्ति की बाह्यरूप में उमड़- प्रभु में इस ज्ञानी श्रावक के इतना अनुराग जगा है कि प्रभु के नाम पर उनकी मूर्ति बनाकर पूज रहा है। यह क्या उस मूर्ति का प्रेम है? अरे ! मूर्ति का प्रेम नहीं है, मूर्ति का अनुराग नहीं है, मूर्ति का पूजन वंदन नहीं है, किन्तु जिसमें इतना प्रबल अनुराग जगा है कि वह उनकी मूर्ति की स्थापना करके पूजता है तो वहां ज्ञानविकास की पूजा है। जो लोग इस मर्म को नहीं जानते हैं उनके यह शंका रहती है कि अजी किसी धनी की भक्ति करो तो वहां कुछ मिल भी जाय। देखो तो कुछ लोग जड़, पत्थर, पीतल इनके सामने सिर रगड़ते हैं, कितना अज्ञान है ऐसी लोग शंका करते हैं जिन्हें पूजा के मर्म का पता नहीं है और पूजक भी यदि यह परिणाम नहीं ला पाते हैं मूर्ति के समक्ष और वहां दृष्टि नहीं रख पाते हैं जिस स्वरूप में परमात्मतत्त्व बसा है और न अन्तर्ध्वनि यह निकल पाती है कि प्रभु कल्याण का पथ तो यही है, मूर्ति में निगाह गड़ाकर नहीं कहना है, किन्तु मूर्ति के समक्ष उस प्रभुस्वरूप में निगाह रखकर कहना है। कल्याण का मार्ग तो यही है। मैं कहां विषयकषायों में रुल रहा हूं और मूर्ति की नासाग्र दृष्टि निरखकर और शान्त मुद्रा देखकर मूर्ति का ख्याल भूलकर केवल शान्तमुद्रा ही निगाह में रह जाय और वहां अन्तर्ध्वनि निकले कि हे प्रभो ! आपने उत्तम विकास पाया है, कितना आनन्द झर रहा है, ऐसा भान करे तो वहां प्रभु की भक्ति हो रही है।

परमभक्ति में ज्ञानाकारोपयोग- इस परमभक्ति में यह पूर्णरूप से ज्ञानाकाररूप उपयोग कर रहा है, यही परमसमाधि है। इस परमसमाधि के द्वारा योगीश्वर समस्त मोह, रागद्वेष भावों का परिहार कर देता है। यह आसन्न भव्य जीव अपने में ऐसा सातिशय आनन्द प्राप्त करता है जो अखण्ड है, अद्वैत है, अभेद्य है, सहज है, उस आनन्द के द्वारा आत्मा में लगता है और योगभक्ति करता है, देखो अपने प्रयत्न से तो यह मन चलता है, किन्तु इस मन का चलाव वहां तक है जहां तक आत्मा के प्रति मन की गति हो। आगे जब यह अध्यात्मयोग अनुभव में आयेगा तब यह मन स्वयं विराम को प्राप्त होगा। मन, वचन, काय ये तीन योग हैं। काययोग प्रभु से नहीं मिलाता है, वचनयोग प्रभु से मिलाता नहीं, मनोयोग प्रभु से मिलाने का उपाय तो बना देता है, पर प्रभु से जब मिलाप हो रहा हो तो वहां मन की गति नहीं होती है।

आत्मदर्शन के प्रसंग में मन के सहयोग का दृष्टान्तपूर्वक समर्थन- जैसे कोई सेठ किसी राजा-महाराजा से मिलना चाहे तो द्वारपाल उस सेठ को ले जाकर वहां तक तो सहयोग देता है जहां तक राजा का दर्शन न होता हो। जिस जगह से राजा का दर्शन होने लगता है उस भवन, उस कमरे के भीतर द्वारपाल का फिर काम नहीं है। अब तो वही सेठ अकेले जाकर राजा से अपनी चर्चा करेगा। द्वारपाल वहां से हट जाता है। ऐसे ही यह उपयोग सेठ इस अंतस्तत्त्व प्रभु से मिलना चाहता है तो इस मन द्वारपाल से यह उपयोग कहता है कि मुझे प्रभु के दर्शन तो करा दो तो यह मन द्वारपाल इस उपयोग सेठ को वहां तक तो ले जाता है। अपनी भावनावों से, चिन्तनावों से, ध्यानों से जहाँ वह अंतस्तत्त्व विराज रहा है, उस अध्यात्म आँगन तक ले जाता है, उसके बाद जब इस मन ने उपयोग को संकेत करके दिखा दिया, देखो विराजा है अंतस्तत्त्व तो अब उस प्रभु से मिलाप करने के समय मन की गति न रहेगी, मन वहां से लौट आयेगा, शान्त हो जायेगा, विश्राम पायेगा। अब यह उपयोग इस अंतस्तत्त्व कारणपरमात्मप्रभु से एकाकी एकरस होकर मिल रहा है, इसी को कहते हैं आत्मानुभव, ज्ञानानुभव। यह अनुभव मन, वचन, काय से परे है, इस अनुभव में आत्मा को जोड़ने का नाम है परमयोगभक्ति। जो आत्मा इस उपयोग को, आत्मा को आत्मा के साथ निरन्तर जोड़ता है वह योगीश्वर निश्चय से परमयोगभक्ति वाला है।

सम्यक्त्व की उपासना का चिन्तन- अपने को इस उपदेश से यह प्रयोजन निकालना चाहिए कि हम जहां बस रहे हैं, रात-दिन जिसमें पड़े रहते हैं, उनमें बसने में, उनमें रमने में, उनकी बात सुनकर हर्ष मौज मानना और वहां ही चैन समझना, यह बहुत बड़ी लम्बी भूल है। हम आप इस समय सघन वन में भटक रहे हैं, शांति का मार्ग नहीं पा रहे हैं। यत्न न कर सकते बने न करें, कैसे कर लेंगे? अभी शक्ति प्रकट नहीं हुई है, पर यथार्थ ज्ञान करने में तो कोई बाधा नहीं है, वह तो ज्ञान की बात है, जान जायें कि यहां सत्य तत्त्व क्या है? कितने ही काम यहां पर कर लें, पर एक यथार्थ ज्ञान न बनाया तो शान्ति का मार्ग नहीं मिल सकता है। कुन्दकुन्दाचार्यस्वामी ने दर्शन पाहुड में कहा है कि जो योगी चरित्र से भ्रष्ट हो जाय वह भ्रष्ट तो है, पर भ्रष्ट नहीं कहा जाता एक वास्तविक भ्रष्टता को ध्यान में रखकर, किन्तु जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हो जाय, श्रद्धा ही जिसकी भ्रष्ट हो जाय उसको भ्रष्ट कहा है। हालांकि चारित्र से भ्रष्ट हुआ भी भ्रष्ट कहा जाता है, पर सन्मार्ग के परिचय से भ्रष्ट नहीं कहा जाता है। सम्यक्त्व से भ्रष्ट हो जाय, श्रद्धा ही न रहे तो उसे भ्रष्ट कहा है और वह संसार में अपना जन्ममरण करता रहेगा

सम्यग्ज्ञान का आदर- यथार्थ ज्ञान का बहुत आदर करो। इतनी हिम्मत बनावो कि इस ज्ञानप्राप्ति के लिए कहीं जाना पड़े, हजार पाँच सौ का खर्च भी हो तो उसके करने का उत्साह रक्खो। नुकसान पड़ जाय तो कुछ हर्ज नहीं, सत्संग में रहकर कुछ धार्मिक नुकसान हो जाय तो उसे भी लाभ की बात समझो। केवल जिनमें मोह ही बस रहा है उनके ही खातिर सब कुछ आपका तन, मन, धन, वचन लग रहा हो, यह क्या ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मतत्त्व प्रभु के लायक बात है? इन विनाशीक पदार्थों से अविनाशी

वस्तु का लाभ बन सके तो इसके करने में बुद्धिमानी है। परवाह मत करो। इस सब ठाठबाटों को पुण्य के उदय पर छोड़ दो। लक्ष्मी की अटकी हो तो आये, पर मेरी नहीं अटकी है कि मैं उस लक्ष्मी का जाप करूँ कि मुझे इतना धन मिल जाय। मुझे तो जितना उदय में है उतना मिलेगा, उतने में ही अपनी व्यवस्था बनाकर अपना गुजारा करूँगा, मेरी उस लक्ष्मी के बिना कुछ अटकी नहीं है।

धर्मसाधना का संकल्प- भैया ! कितने दिनों का यह खेल तमाशा है, जिसके पीछे इतना हताश होकर दौड़ा जाय। कुछ तत्त्व नहीं है और दौड़ने से कुछ सिद्धि भी नहीं है, जो होने को है सो होगा। ये सांसारिक सुख-दुःख सब पुण्य-पाप कर्मों के उदयानुसार है। इसका यह पुरुषार्थ तो मोक्षमार्ग में काम देगा। यह ज्ञान ज्ञान का ज्ञान करना चाहे तो क्यों न होगा? यह ज्ञान रागद्वेष से रहित होकर शुद्ध ज्ञातादृष्टा रहना चाहे तो क्यों न रह सकेगा? अपना बल, अपना पुरुषार्थ हो तो अपने आपके हित पंथ पर चल सकता है, पर जड़ सम्पदा के संचय पर नहीं चल सकता है। जो परिस्थिति आए उसमें ही गुजारा रखने का परिणाम रक्खो और धर्मसाधना में कभी कमी मत करो तो इस चर्या से आगे बढ़कर कभी इस अध्यात्मयोग को भी प्राप्त कर लोगे।

गाथा 138

सव्ववियप्पाभावे अप्पाणं जो हु जुंजदे साहू।
सो जोगभत्तिजुत्तो इदरस्स य कह हवे जोगो॥138॥

निर्विकल्प आत्मयोग में योगभक्ति- सर्वविकल्पों का अभाव होने पर जो आत्मा को आत्मा में लगाता है अर्थात् जो साधु अपने उपयोग को उपयोग के स्रोतभूत ज्ञानस्वभाव में जोड़ता है और विकल्पों से विविक्त होता है वही पुरुष परम योगभक्ति वाला है, अन्य अपने आत्मस्वरूप से विमुख होने वाले किसी भी प्राणी के यह योग किसी भी प्रकार नहीं हो सकता है। इस गाथा में भी निश्चय योगभक्ति का वर्णन किया है। विकल्पों का अभाव समाधिभाव द्वारा होता है, समाधिभाव आत्मा के सहजस्वरूप के दर्शन में होता है, आत्मा के सहजस्वरूप का दर्शन तब हो जब इसका परिचय हो। इसका परिचय भेदविज्ञान से ही हो सकता है। यह मैं आत्मा उपरागरहित हूँ, ऐसा अंतरंग में शुद्धस्वभाव का परिचय मिले तो उसका दर्शन भी होगा।

शुद्धस्वभाव का परिचय- जैसे एक दर्पण है, जिसके सामने लाल-पीली चीज का प्रतिबिम्ब पड़ रहा है, वह लाल-पीली वस्तु भी जो सामने है वह बहुत लम्बी चौड़ी है, इस कारण वह दर्पण भी सारा लाल-पीला हो रहा है, तिस पर भी समझदार आदमी जानते हैं कि लाल-पीला होना इस दर्पण का स्वभाव नहीं है,

लाल-पीला हो तो रहा है, परन्तु दर्पण में स्वभाव लाल-पीलेपन का नहीं है, दर्पण में स्वच्छता का स्वभाव है। यदि स्वच्छता का स्वभाव न हो तो यह लाल-पीला प्रतिबिम्ब भी न आ सकता था। भीत में स्वच्छता का स्वभाव नहीं है तो यह प्रतिबिम्ब भी नहीं पड़ता। प्रतिबिम्ब से रंगे हुए दर्पण में भी प्रतिबिम्ब को लक्ष्य से हटाकर दर्पण की स्वच्छता का जैसे आप भान कर लेते हैं ऐसे ही इस आत्मा में कर्मों के उदयवश जो रागद्वेष का रंग चढ़ रहा है, रागद्वेष प्रतिबिम्बित हो रहे हैं। ज्ञानी पुरुष उस रंगीले प्रतिबिम्ब को लक्ष्य में न लेकर यह जान लेते हैं कि आत्मा का स्वभाव रागद्वेष भाव का नहीं है। इसका स्वभाव तो ज्ञानात्मक स्वच्छता का है, जिसमें ज्ञानात्मक स्वच्छता नहीं होती है उसमें रागद्वेष, सुख-दुःख आदिक भी नहीं प्रकट हो सकते हैं। पुद्गल में, जड़ में ज्ञानात्मक स्वच्छता नहीं है तो इसमें कभी सुख-दुःख हो सकते हैं क्या? ज्ञानी पुरुष रागादिक विकल्पों को लक्ष्य में न लेकर मूलभूत ज्ञानात्मक स्वच्छ भावों को परखते हैं।

मायाव्यासंग में योग का अभाव- वह आत्मतत्त्व निजस्वरूप सत्तामात्र है, चिद्विलासमय है, मात्र प्रतिभास है, वही मेरा स्वरूप है, यही मेरा सर्वस्व धन है, यही समृद्धि है, यही सब कुछ है। इसके अतिरिक्त जितने जो कुछ परिकर हैं वे सब मायारूप हैं। जो जीव इस स्वरूप को भूलकर इन मायामय स्कंधों में अपने को लगाते हैं अर्थात् रागद्वेष करते हैं उनके योग कहाँ सम्भव है? परमसमाधि द्वारा जब मोह रागद्वेषादिक नाना विकल्पों का अभाव हो जाता है तो उस समय यह भव्य जीव इस उपयोग को इस कारणसमयसार में जोड़ता है। वही वास्तव में निश्चययोगभक्ति है। यह निष्पक्षधर्म का स्वरूप कहा जा रहा है, जिसमें किसी प्रकार का हठ नहीं, पक्ष नहीं, केवल एक सत्य का आग्रह है।

गुलामी और उससे मुक्त होने के दो उपाय- किसी विपदा में उलझ जाने पर सुलझने के लिये सभ्यता के दो उपाय होते हैं- एक तो सत्याग्रह और दूसरा असहयोग। कभी कोई अपने पर अन्याय हो रहा हो और उस अन्याय का हम किसी प्रकार निराकरण करना चाहें तो इसके दो ही उपाय बढ़िया हैं- सत्याग्रह कराना और असहयोग करना। हम भावकर्म और द्रव्यकर्म के बंधन से जकड़े हुए हैं। भला बतलावो तो सही कि चिदानन्दस्वभाववान् होकर भी यह अमूर्त ज्ञानप्रकाश एक देह में जकड़ा है और सुख-दुःख आदिक अनेक विकल्पों में बस रहा है, यह क्या कम विपत्ति है? लोग मन के अनुकूल-प्रतिकूल कुछ बात न होने पर वेदना अनुभव करते हैं क्या यह बड़ी विपदा है? अरे बड़ी विपदा तो यह है कि जो द्रव्यकर्म, भावकर्म और शरीर में बँधे पड़े हुए हैं, ऐसे इस बंधनबद्ध गुलाम जीव का क्या कर्तव्य है कि गुलामी से मुक्त होकर आजाद बन जाय, बस दो ही उपाय हैं- सत्याग्रह और असहयोग। जो सत्य तत्त्व है, जिस सत्य पर इसने अपना लक्ष्य बनाया है उस सत्य का तो जबरदस्त हमारा आग्रह हो। ये कर्म सरकार थोड़े-थोड़े विषयभोगों का प्रलोभन देकर हमें बहलाना चाहें तो हम न बहलेंगे, हमें तो सत्य का आग्रह है।

सत्याग्रह का संकल्प- जैसे जो चतुर सरकार होती है, वह किसी देश को गुलाम बनाये तो उन देशवासियों में जो कुछ भड़कने वाले लोग होते हैं उन्हें पद, अधिकार, सम्मान देकर उन्हें वश किये रहा करते हैं, उन्हें उभरने नहीं देते, ऐसे ही ये कर्म इस गुलाम जीव को जो कि कुछ थोड़ा बहुत समझदार बन जाता है उसे कुछ अधिक विषयभोगों के साधन देकर और कुछ सम्पदा का प्रलोभन देकर इसे बहला देते हैं और यह जीव बहल जाता है, सो संसार में रुलता रहता है, गुलामी से मुक्त होने की फिर यह आवाज नहीं उठाता है तो प्रथम तो हमें सत्य का आग्रह करना चाहिए। उस सत्य के आग्रह के मुकाबले में कोई कितना ही प्रलोभन दे उसमें न भूलना, किन्तु एक सहज ज्ञानान्दस्वरूप जो आत्मा का शुद्ध तत्त्व है उसका ही आग्रह करना, गुलामी से मुक्त होने का प्रथम उपाय तो यह है।

असहयोग का प्रभाज- गुलामी से मुक्ति का दूसरा उपाय है असहयोग। जो भार मुझ पर लादा जा रहा है विषयकषायों के परिणाम का, इनका सहयोग न करें, यही असहयोग है। जो जीव तत्काल भले लगने वाले और अपनी समझ के अनुसार यही एक मनोरम स्थान है, ऐसी एक सुन्दरता सजावट बताने वाले इन विषयकषाय के परिणामों को जो अपना लेते हैं वे पुरुष गुलामी से मुक्त नहीं हो सकते। जैसे भारत-स्वातन्त्र्य-आंदोलन में भारतीयों ने बहुत सुन्दर सुसज्जित, महीन, विलायती कपड़ों का खरीदना बंद कर दिया था। किसी व्यवस्था में, किसी कार्य में सहयोग न देंगे, ऐसे ही यह ज्ञानी पुरुष इन विषयकषायों के परिणामों में सहयोग नहीं देता है, वह उन्हें बोझ समझता है, अन्याय जानता है। यह सब मुझ चैतन्यस्वरूप परमात्मतत्त्व पर अन्याय हो रहा है, इन्हें मैं क्यों अपनाऊँ? यह मेरा भाव नहीं है, मेरा स्वरूप नहीं है। इस प्रकार का इन परभावों के साथ असहयोग किया जाय तो इन दो उपायों से यह आत्मा असत्य परतन्त्रता बन्धन को त्यागकर अपने सत्य, स्वतंत्र और निर्ग्रन्थ अवस्था को प्राप्त हो जायेगा।

भक्ति में दासोऽहं का प्रथम रूप- जो योगी पुरुष सर्व प्रकार से अन्तर्मुख जो निज कारणसमयसारस्वरूप आत्मतत्त्व है उसको अपने उपयोग से जोड़ता है समाधि के द्वारा, उस ही के यह निश्चय योगभक्ति होती है, अन्य पुरुषों के नहीं। भक्ति की उत्कृष्ट रूपता वहाँ होती है जहाँ भेदभाव भी नहीं रहता है। जहाँ भेदभाव बन रहा है वहाँ परमभक्ति नहीं है, किन्तु दासता है। भक्त पुरुष सर्वप्रथम अपने को दासोहं का अनुभव करते हैं। प्रभु मैं तेरा दास हूँ और प्रभु का दास बनकर, सेवक बनकर प्रभुस्वरूप की उपासना करते हैं, वे प्रभुस्वरूप पर आसक्त, अनुरक्त, मोहित होते हैं, अपना सर्वस्व न्योछावर कर देते हैं।

भक्ति में सोऽहं व अहं के अनुभव का विकास- दासोहं की निश्छल लगन होने पर यह भक्त परमात्मा के और निकट पहुंच जाता है। जब और निकट पहुंचा तो दासोऽहं का दा खत्म हो जाता है, अब सोहं रह जाता है। जो वह है, सो मैं हूँ। देखो सोहं की कैसी प्राकृतिकता है कि हम आप सभी मनुष्य श्वास-श्वास

में सोहं बालते रहते हैं और अनुभव नहीं करते। जब श्वास भीतर को खींचते हैं तो सो की ध्वनि निकलती है और जब श्वास को बाहर निकालते हैं तो हं की ध्वनि निकलती है। जब यह सोहं-सोहं के भवपूर्वक ध्यान के प्रसाद से प्रभु के उस शुद्ध ज्ञानपुंज स्वरूप को निरखकर और अपने आपके इस ज्ञायकस्वरूप को देखकर जब और अति निकट पहुंचता है तब सो का भी अभाव हो जाता है, केवल अहं का अनुभव रहता है। परमभक्ति यहाँ पूर्ण हुई जहाँ केवल अहं का अनुभव रह गया। दासोऽहं में दासता थी, सोहं में अनुराग था, मित्रता थी और अहं में परमभक्ति हुई है। जो पुरुष अपने आपके स्वरूप में अभेदभासना पूर्वक अपने को जोड़ लेता है उस पुरुष के योगभक्ति होती है।

हितपूर्ण आन्तरिक निर्णय और साहस- भैया ! एक बार तो अंतरंग से यह निर्णय कर लो कि नाक, थूक, मल-मूत्र, हाड़-मांस के लोथड़ वाले इन परिजनों से आत्मा का हित नहीं होता है। यह जड़ सम्पदा, धन, सोना, चाँदी जो प्रकट अचेतन हैं, इन अचेतन पदार्थों से आत्मा का हित नहीं होता है, यह बात पूरे पते की कही जा रही है। इसमें जब तक लुभाए रहेंगे तब तक संसार का रुलना ही बना रहेगा। एक बार आत्मतत्त्व की झलक तो लावो, जैसा यह आनन्दरस से भरपूर आत्मा स्वयं है, वैसा यथार्थ अनुभव करें, वहाँ योगभक्ति बनेगी। यह योगभक्ति साधु-संतों के बन पाती है। कारण यह है कि उनके वैराग्य भाव के कारण सर्व प्रकार का संग छूटा हुआ है और केवल ज्ञान, ध्यान, तप का ही वातावरण है, उनका उपयोग इस परमशरण अंतस्तत्त्व में स्थिर रह सके, इसका अवकाश है और गृहस्थजनों के चूँकि सभी विडम्बनाएँ साथ लगी हुई हैं इस कारण चित्त स्थिर नहीं रह सकता, लेकिन कितने भी समागम साथ जुटे हुए हों जिनको ज्ञानबल से इस विविक्त ज्ञानस्वरूप का पता लग गया है वह तो किसी भी क्षण बड़ी विपदा और विडम्बना के वातावरण में भी जरा दृष्टि फेरी, भीतर को दृष्टि दी कि आकुलताओं को नष्ट कर डालता है।

आत्ममहत्त्व का स्वीकार- इस अभेद ज्ञानस्वरूप सहज अंतस्तत्त्व का परिचय होने पर ही समझिये कि हमने सर्वस्व पाया है। यह सब जो कुछ पाया है मेरे क्लेश का कारण है, इससे अपना बड़प्पन न कूटें, किन्तु मैं अपने आपमें कितना रम सकता हूँ उससे अपना बड़प्पन कूटें। जितने भी आनन्द हैं वे सब आनन्द इस आनन्दमय आत्मा से निकल कर परिणत होकर अनुभव में आया करते हैं। क्या किसी बाह्य पदार्थ से आनन्द निकल कर आत्मा में आता है? अरे जो आनन्दस्वरूप है वही आनन्दरूप परिणत हो सकता है। अपने ज्ञानानन्दस्वरूप का विश्वास रखो और इसी समय ही यह स्वीकार कर लो कि मेरे को जगत में एक भी कष्ट नहीं है।

वस्तुतः क्लेश का अभाव- देखो भैया ! संसार में जिन पदार्थों का समागम हुआ है क्या इनका कभी वियोग न होगा? होगा वियोग। वियोग होने पर क्या उसकी सत्ता मिट जायेगी? न मिटेगी। जब तक संयोग था तब तक भी न्यारे-न्यारे वे समस्त समागम हैं। क्या कोई आत्मा में प्रवेश किए हुए है? यह आत्मा तो समागम के काल में भी केवल अपने स्वरूपमात्र था, है, रहेगा। कहाँ संकट है? कल्पना से मान

लिया कि मेरा अमुक इष्ट मिट गया। अरे जगत में कोई पदार्थ मेरा इष्ट अनिष्ट भी है क्या? सभी जीव अपने-अपने आशय के अनुसार अपने में आनन्द पाने का प्रयत्न कर रहे हैं, हमारा कोई विरोध नहीं कर रहा है। जगत में जितने भी पदार्थ हैं वे सब अपनी बुद्धि के अनुसार अपने आपको सुखी होने का काम कर रहे हैं। मन, वचन, काय की चेष्टा अपने सुख के अर्थ कर रहे हैं। जैसे वे अपने सुख के अर्थ अपने भाव बना रहे हैं, मैं भी अपने सुख के अर्थ अपने भाव बना रहा हूँ। अज्ञानवश किसी भी परतत्त्व को अपने सुख का बाधक मानकर किसी को विरोधी मान लूँ तो अब अनिष्ट समागम का क्लेश होने लगा, यह क्यों मेरे सामने है, यह क्यों नहीं हट जाता? अरे ! जगत में अन्य कोई पदार्थ अनिष्ट है ही नहीं, फिर क्लेश क्या है? हम रागद्वेषवश इष्ट-अनिष्ट बुद्धि करते हैं तो क्लेश होता है अन्यथा वहाँ क्लेश का कोई काम ही नहीं है।

आत्मा के यथार्थ अनुभव का कर्तव्य- एक बार तो ऐसा अनुभव कर लो कि मैं ज्ञानघन, आनन्दमय, क्लेशों से रहित, पवित्र, स्वच्छ ज्ञानपुंज हूँ, मेरे में किसी परतत्त्व का लगाव नहीं है, ऐसा किसी क्षण अनुभव कर लो। यह अनुभव ही संसार के समस्त संकटों को दूर कर सकेगा, अन्य सब ख्याल केवल विडम्बना हैं और विपत्ति हैं, ये योगीश्वर संत पुरुष ऐसी उत्कृष्ट सर्वश्रेष्ठ योग भक्ति करते हैं। जिसके द्वारा इन योगियों के आत्मा की उपलब्धि होती है, यही मुक्ति है। मेरी सही-सही आत्मा नजर आ जाय और जैसा यथार्थ सहज है तैसा ही रह जाय, इस ही का नाम मोक्ष है। अब ऐसा बनने के प्रयत्न में क्या-क्या करना होता है, उस ही को रत्नत्रय कहते हैं। ऐसी परमभक्ति की हम आपकी उपासना हो और विश्वास रख लो कि मेरा जगत में परमाणुमात्र भी कुछ नहीं है, अपने आपको प्राप्त कर लो तो इससे आत्मा सर्वसंकटों से मुक्त हो जायेगा। यही कर्तव्य हम आप सबके मनुष्य-जन्म की सफलता का कारण है।

गाथा 139

विवरीयाभिणिवेशं परिचत्ता जोण्हकहियतच्चेसु।

जो जुंजदि अप्पाणं णियभावो सो हवे जोगो॥139॥

सुतत्त्वयोग में योगभक्ति- जो ज्ञानी पुरुष विपरीत अभिप्राय को त्याग करके जैन के द्वारा कहे गए तत्त्वों में अपने को लगाता है, ऐसा जो उसका निज भाव है उसका नाम योग है। यहाँ जैन से मतलब है रागद्वेष जीतने वाले जिन अर्थात् प्रभु के भक्त। वे होते हैं गणेश, महावीर स्वामी के समय में गौतम गणेश

उनके मुख्य उपासक थे। प्रत्येक तीर्थंकर के समय में गणेश होते हैं, जो अपने गण के ईश अर्थात् नायक होते हैं उनका नाम गणेश है। उनका दूसरा नाम गणधर भी है। ये गणधरदेव समस्त गुणों के धारण करने वाले गण के भी नायक हैं। ऐसे जैन मुनियों के द्वारा कहे गए तत्त्व में विपरीत अभिप्राय न रखना, विपरीत आशयरहित जो आत्मा का परिणाम होता है उसे निश्चयपरमयोग कहा है।

सप्ततत्त्वों में मूल तत्त्व- मोक्षमार्ग के प्रयोजनभूत तत्त्व 7 होते हैं। संसार के संकटों का नाश करने में समर्थ 7 तत्त्वों का यथार्थ परिज्ञान है। इस प्रकरण को ध्यान से सुनो। यह संकटहारी उपायों का कथन है। हम आप आत्मा से सम्बंधित मूल में दो तत्त्व है एक तत्त्व तो स्वयं है और एक तत्त्व उपाधि का है, जो हेय है अर्थात् जीव और अजीव का यह सारा झमेला है। न केवल जीव में झमेला होता है और न केवल अजीव में झमेला होता है, किन्तु जीव और अजीव जब मिलकर अपने-अपने स्वभाव को त्यागकर दोनों बिगड़ जाते हैं तब यह झमेला बनता है। मूल में दो तत्त्व हैं- जीव और अजीव।

पंचपर्यायतत्त्वों के निरूपण का आधार- इस प्रकरण में जीव का अर्थ तो चेतन सहित है और इस समय सहज शुद्ध ज्ञायकस्वरूप की दृष्टि न रखकर सोचो, क्योंकि इस जीव में 5 पर्यायों का वर्णन किया जायेगा और दूसरा तत्त्व बताया है अजीव। अजीव में यद्यपि धर्म, अधर्म, आकाश और काल, ये 5 पदार्थ आते हैं, पर उन पांचों में से केवल पुद्गल को लेना और पुद्गल में भी कार्माणवर्गणा को लेना। धन, वस्तु, सम्पदा, सोना, चाँदी, मकान इनका ग्रहण न करना, किन्तु कर्मों को लेना। जीव मायने यहाँ जीव और अजीव मायने कर्म। जीव और कर्म का जो सम्बंध है उस सम्बंध के संयोग अथवा वियोगरूप निमित्त को लेकर 5 तत्त्व बनते हैं- आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष।

आस्रव और बन्ध- जीव में अजीव का आना, सो आस्रव है। आने का नाम आस्रव, आस्रवण है। आने के अर्थ में अनेक शब्द हैं, आ गये, सरक आये, धमक आये, बोलते जाइए, आखिर आने के ही तो ये शब्द हैं और सब शब्दों से जुदे-जुदे अर्थ हैं। आ गये, इसका अर्थ है कि सभ्यता जैसी चाल से जैसे आना होता है उस तरह आ गये। सरक आये, मायने इष्ट तो न था, पर धीरे-धीरे आखिर जान पर आ ही पड़ा। धमक आया, इष्ट भी न था और बड़े वेग से यह बढ़ पड़ा। आने के शब्द कितने ही हैं, आने के शब्द से यहाँ आस्रव दिया है। कर्मों का आस्रवण होना, सो आस्रव है। इस आस्रवण का अर्थ है धीरे-धीरे निरन्तर सिलसते हुए आना, जैसे किसी पहाड़ में छोटा झरना झरता है तो निरन्तर अपनी धार में आता रहता है, निरन्तर बहकर आने का नाम है आस्रवण। ये कर्म आत्मा में आत्मा के ही स्थान में वहीं के वहीं चूकर, बहकर, रिसकर कर्मरूप पर्याय में आते हैं। जीव में कर्मों का आना, सो आस्रव है और आये हुए कर्मों का बहुत काल तक के लिए आत्मा में ठहर जाना, इसका नाम बंध है।

संवर, निर्जरा व मोक्ष- कर्मरूप होने के योग्य कार्माणवर्गणाएँ तो अनेक बैठी हैं पहिले से ही, वहाँ कर्मरूप न हो सके, ऐसे आत्मनियंत्रण का नाम है संवर। अब कर्म रुक गये, कर्मरूप न हो सके, संवर के

अर्थ में कुछ लोग यों कहते हैं कि कर्मों का आना रुक जाना, सो संवर है और कोई यह कहते हैं कि आते हुए कर्मों का रुक जाना, सो संवर है। सुनने में दोनों एकसी बातें लग रही होगी, पर इनमें बड़ा अन्तर है। अरे आते हुए कर्मों को रोक कौन सकता है, इसलिए यह ठीक नहीं है। कर्मों का आना रुक जाना अर्थात् आना न हो सके, इसका नाम संवर है और बंधे हुए कर्मों का झड़ जाना, इसका नाम निर्जरा है और जब समस्त कर्म जीव से अलग हो जायें, झड़ जायें तो मूलतः इसका नाम मोक्ष है। यह है सात तत्त्वों की एक स्थूल परिभाषा।

व्यवहार व निश्चय के प्रतिपादन की पद्धति- अब इस प्रसंग को निश्चयनय के रूप से देखिये। यह हुई है व्यवहारनय की परिभाषा। व्यवहारनय कहते हैं उसे, जहाँ दो चीजों का सम्बंध बताकर, नाम लेकर उसकी बात कही जाय, इसका नाम है व्यवहार। इन 5 प्रकारों में से कहीं तो जीव और अजीव का सम्बंध बताया, कहीं वियोग बताया और कहीं विविक्तता बतायी। तो यह व्यवहारनय का प्रतिपादन है। निश्चयनय के प्रतिपादन में एक पद्धति होती है, वह यह कि जिसकी बात कहना, उसमें ही बात कहना, उसकी ही कहना, एक में दूसरी न मिलाये, दूसरे का नाम लेकर न कहना, एक में कुछ ही कहना, वह है निश्चय प्रतिपादन।

व्यवहारिक पद्धति का एक दृष्टान्त- जैसे गाय को गिरवाँ में बाँध दिया है तो लोग यह कहते हैं कि गाय गिरवाँ से बँधी है। जैसे सुतली का एक छोर रस्सी के छोर से बाँध दिया जाय, इस तरह से गाय के गले को गिरवाँ से बांधा है क्या? अरे ऐसे कोई बांधने लगे तो गाय मर जायेगी। गाय का गला गिरवाँ से नहीं बँधा है, गाय का गला पूरा का पूरा वैसा का वैसा ही है, गिरवाँ का एक छोर गिरवाँ के ही दूसरे छोर से बंधा है, वहाँ यथार्थ तो यह है कि गिरवाँ ने गिरवाँ को बांधा है और उस स्थिति में यह मरखनी गाय परतन्त्र हो गयी है, ऐसे ही कर्मों में कर्म आते हैं, कर्मों में कर्म बँधते हैं और उस स्थिति में यह मलिन जीव परतन्त्र हो जाता है।

अजीव विषयक पंचतत्त्व- अब यों निरखिये कि कर्मों में, कार्माणवर्गणाओं में कर्मत्व आना, इसका नाम अजीव है और उन कर्मों में स्थिति भी पड़ जाना कि ये कर्म इतने समय तक अमुक प्रकृतिरूप रहेंगे, इसका नाम है अजीवबंध। कार्माणवर्गणा में कर्मत्वरूप न होने देना, न आना, इसका नाम है अजीवसंवर और उन कार्माणवर्गणाओं में कर्मत्व का झड़ जाना, इसका नाम है अजीव निर्जरा और वे कर्म कर्मरूप न रहे, अपने मूलस्वरूप में पहुंच गये, इसका नाम है अजीवमोक्ष। निश्चय के प्रतिपादन में ये अजीव के 5 परिणामन हैं।

जीवविषयक पंचतत्त्व- अब जीव के 5 परिणामन देखिये- जीव मूल में है ज्ञायकस्वरूप, ज्ञानानन्दस्वभावमात्र, अविकारी, अविकार स्वभाव वाले जीव में रागादिक विभावों का आना, सो है जीवास्रव और रागादिक विभावों का कुछ भी संस्कार बनाना, यह है जीव बंध। रागादिक विभावों का न

होने देना, सो है जीव संवर। रागादिक विभावों का झड़ने लगना, सो है जीवनिर्जरा और रागादिक भाव मूलतः अलग हो जायें, फिर कभी भविष्य में रागादिक का अंशमात्र भी आ ही न सके, इसका नाम है जीवमोक्ष। ये हैं निश्चयनय की दृष्टि से 5 तत्त्वों की व्यवस्थाएँ। अब ये 10 पर्यायरूप तत्त्व हो गये- अजीव आस्रव, अजीवबन्ध, अजीवसंवर, अजीवनिर्जरा, अजीवमोक्ष, जीवास्रव, जीवबन्ध, जीवसंवर, जीवनिर्जरा, जीवमोक्ष।

ज्ञानविलास में पंचतत्त्व- अब इस निश्चयनय में भी केवल निजस्वरूप और निजस्वरूप के विलास में इन 5 तत्त्वों को देखो तो वहाँ एक समृद्धिवर्द्धक एक रचना मालूम पड़ेगी। यह आत्मा ज्ञानस्वरूप है, सहज निजज्ञानाकाररूप है, सहज ज्ञानस्वभावमय है। यह ज्ञायकस्वरूप आत्मा अपने आपमें परवस्तुओं के जानने का परिणमन करता है, इसमें अन्य पदार्थ ज्ञेयरूप प्रतिभास होते हैं। इस ज्ञान में परज्ञेय आता है। जो शाश्वत है वह तो होता है आधार और जो आए जाए उसको कहते हैं आना-जाना, अध्रुव चीजा। इस ध्रुव ज्ञान में यह अध्रुव ज्ञेय आता है। ध्रुव में अध्रुव का आना, सो आस्रव है। यह अन्तःनिश्चय की बात कही जा रही है। इस ज्ञान में ज्ञेयों का रह जाना अर्थात् उनका बने रहना, सो है बन्धा ज्ञान में ज्ञेय का न आना, किन्तु ज्ञान केवल ज्ञानरूप को ही ग्रहण करके ज्ञान-ज्ञान में एकरस रहा करे इसका नाम है संवर और उन ज्ञेयाकार का छोड़ना निर्जरा और चिरकाल तक ज्ञान ज्ञानाकार रूप ही बना करे, उनकी ओर न झुके, इसका नाम है मोक्ष। भैया कई प्रकारों से इन जीवादिक 7 तत्त्वों का परिज्ञान करना और उनके स्वरूप में विपरीत आशय को त्याग देना इसका नाम है योग और आत्मकल्याण की साधना।

व्यामोह में विडम्बना- जगत के प्राणी अपने आपके यथार्थस्वरूप को न पहिचानकर पुत्र, मित्र, स्त्री, धन, सम्पदा इनमें आत्मीयता का अभिप्राय करते हैं, यह तो प्रकट विपरीत आशय है, मिथ्यात्व है। कितने ही पुरुष तो धन, सम्पदा से ऐसा तीव्र मोह रखते हैं कि न वे अपने लिए भी आराम से खा पी सकते हैं और न किसी पर के उपकार में भी कुछ दे सकते हैं। अन्त में उनकी स्थिति ऐसी बुरी होती है कि मरण समय में अत्यन्त संक्लेश होता है। जिस द्रव्य को न भोग सका, न दे सका यह सारा का सारा समूचा द्रव्य अब मुझसे छूटा जा रहा है, ऐसी कल्पना में उस समय का संक्लेश इसके बहुत कठिन होता है। एक कवि ने मजाक में सबसे बड़ा दानी कंजूस को बताया है। सबसे बड़ा दानी है वह कंजूस पुरुष, जिसने कभी दान देने का परिणाम तक भी नहीं किया, किसी को दे नहीं सका और न खुद खा सका। चना मटर खाकर गुजारा किया, ऐसा अपने इह लोक व परलोक के लिए तो कुछ नहीं करता और सारा का सारा समूचा छोड़कर दूसरे को देकर चला जाता है, ऐसे कंजूस को बताया है कि वह महादानी है। अरे ! जो अपने लिए तो कुछ नहीं करता है, समूचा दूसरों को दे जाता है, ऐसा भी कोई आसक्त मोही पुरुष होता है? वह तो प्रकट मिथ्यात्व है, इसकी तो चर्चा ही क्या करें? किन्तु धर्मबुद्धि होने पर कुछ कल्याण की बात में भी चित्त दें और वहाँ सही रास्ता न मिलना, अयथार्थ बुद्धि वाले जो तीर्थनाथ हुए हैं,

गुरु हुए हैं उनके द्वारा कहे गए जो विपरीत उपदेश हैं उनमें दुराग्रह होना, इसका नाम विपरीत अभिप्राय है जिसका निषेध इस गाथा में किया जा रहा है।

विपरीताशयवियुक्त निजभाव में योगभक्ति- विपरीत अभिप्राय को छोड़कर जैन कथित तत्त्व को निश्चय और व्यवहारनय से जानना चाहिये। जो सकल जिन हैं, तीर्थंकर, अरहंत परमात्मा हैं उन भगवान तीर्थंकर नाथ के चरण-कमल की सेवा करने वाले जो गणेश होते हैं उनका नाम है जिन। उन गणधरों के द्वारा कहे गये समस्त जीवादिक तत्त्वों में जो योगीश्वर अपने आत्मा को जोड़ता है उसके जो यह शुद्ध निज भाव है उसे परमयोग कहते हैं। हे मुमुक्षु पुरुषों ! इस विपरीत अभिप्राय को त्यागकर परवस्तु में, परपदार्थ में अंतस्तत्त्व के मानने के दुराग्रह को त्यागकर गणधर आदिक जिन मुनिनाथों के मुखारबिन्द से जो तत्त्व उपदेश प्रकट हुए हैं उनमें अपने उपयोग को लगावो। राग, द्वेष, मोह के विनाश के कारणभूत उस तत्त्वमर्म में अपने उपयोग को एकाग्र करो, यह ही एक निज भावयोग कहलाता है। राग, द्वेष, मोह को त्यागकर शुद्ध ज्ञानानन्द स्वभावमात्र अपने आपको अनुभव करना, 'मैं तो यह हूँ' ऐसी बुद्धि करना इसका नाम है योग। जो इस योग की उपासना करता है वह कभी परमयोगी होकर अवश्य निर्वाण को प्राप्त करेगा।

गाथा 140

उसहादिजिणवरिंदा एवं काऊण जोगवरभत्तिं।

णिब्बुदिसुहमावण्णा तम्हा धरु जोगवरभत्तिं॥140॥

भक्ति का उपसंहार- भक्ति अधिकार का उपसंहार करने वाली सह अंतिम गाथा है। इसमें भक्ति का उपसंहार अथवा उपन्यास किया गया है। उपसंहार शब्द का अर्थ है- उप मायने समीप, सं मायने भली प्रकार, हार मायने ग्रहण करे, अपने आप में भक्ति को ग्रहण करना, सो भक्ति का उपसंहार है और उपन्यास का भी अर्थ वही है, उप मायने अपने समीप में, न्यास मायने रख लेना। यहाँ भक्ति के उपन्यास में यह कहा जा रहा है कि जिनेन्द्र, ऋषभादिक जो निर्वाण के सुख को प्राप्त हुए हैं, वे इस परमयोगभक्ति को करके हुए हैं। इस कारण हे मुमुक्षु पुरुषों ! तुम सब भी इस उत्कृष्ट योगभक्ति को धारण करो।

कालविभाग- आजकल जो काल चल रहा है यह पंचमकाल है, इससे पहिले चतुर्थ काल था, जिस समय में मुक्ति का मार्ग खुला हुआ था। चतुर्थ काल से थोड़े ही पहिले भी मुक्ति होने लगी थी और चतुर्थ काल के उत्पन्न हुए चतुर्थकाल के कुछ बाद भी मुक्त हुए थे, पर वह समय चतुर्थकाल से ही सम्बन्धित है। उससे पहिले जघन्य भोगभूमि भी, जहां भोगसाधनों के आराम थे और भोगसाधनों के प्रेम की वजह से मोक्ष का मार्ग नहीं चल रहा था। उससे पहिले मध्यम भूमि थी, वहां भोगों के साधन इससे भी ज्यादा

बढ़कर थे और उससे पहिले प्रथम काल था, वहां भोगों के साधन और अधिक थे। कुछ लोग काल को 4 हिस्सों में बांटते हैं- सतयुग, द्वापर, त्रेता और कलियुग। इसका अर्थ भी इन्हीं 6 कालों से सम्बंध रखता है। वर्तमान, यह पंचम काल है, इसके आगे छठा काल आयेगा। इसमें प्रथम काल को सतयुग माना, दूसरे काल का नाम द्वापर, तीसरे काल का नाम त्रेता और चतुर्थ काल का नाम कलियुग हो गया, क्योंकि कृषि, मसि आदिक कलाओं का चतुर्थ काल में प्रादुर्भाव हुआ था और यह सिलसिला पंचमकाल में भी है, कुछ छठे काल तक भी चलेगा।

आदि देव- ऋषभ आदिक जिनेन्द्र इस चतुर्थ काल से सम्बन्धित थे, जिनमें ऋषभदेव तृतीय काल के अंत में उत्पन्न हुए हैं और चतुर्थ काल प्रारम्भ होने में जब कुछ भी समय शेष रह गया था, तब उनका निर्वाण हुआ था। ऋषभदेव के समय से जनता में आजीविका के साधनों का और नाना प्रकार की आजीविका के साधनों का प्रसार हुआ था। मोक्ष का मार्ग भी उनसे ही प्रकट हुआ है। इस कारण ये ऋषभदेव सृष्टिकर्ता के रूप में माने जाते हैं। वस्तु के सत्त्व की सृष्टि नहीं की, किन्तु एक नया-सा जमाना बनाया। भोगयुक्त समय से निकलकर एक धर्म ज्ञानप्रकाश का साधन बनाया तो इतनी बड़ी जबरदस्त जब पलटन होती है तो लोगों की दृष्टि में एक नई सृष्टि बनी है, यह ख्याल आना प्राकृतिक है।

कैलाशपति आदिम महाशिव- ऋषभदेव चूँकि कैलाशपर्वत से मोक्ष पधारे हैं, इसलिए उन्हें कोई कैलाशपति कहते हैं, ये ऋषभदेव इस कलियुग से पहिले धर्मप्रकाश की आदि में उत्पन्न हुए हैं इसलिए कोई इन्हें आदमबाबा कहते हैं। जो आदि में उत्पन्न हुआ उसे आदिक कहते हैं। शिवस्वरूप और शिवसुख को उत्पन्न उन्हीं ने किया इस कारण ये शिव कहलाते हैं और समस्त देवों में, समस्त जिनेन्द्रों में ये प्रथम हुए है अतः ये महादेव कहलाते हैं। ऋषभदेव के समय से समस्त जनसमूह की भक्ति भावना प्रारम्भ से रही आयी है। उनके विषय में समयानुसार स्वरूपविकल्पना होती गई है जिससे अनेक रूपों में मान्यता हो गई है। जो शिवरात्रि के नाम से प्रसिद्ध है, वह ऋषभनिर्वाण की प्रथम रात्रि की माघ बदी 13 का रूप है। गुजरात में आजकल भी एक महीना पहिले का नाम चलता, जो आपके यहाँ फागुन बदी 13 है वह उनकी है माह बदी 13 और आज भी उसे माह बदी 13 बोलते हैं। माह बदी 13 की रात्रि व्यतीत होने के बाद ऋषभदेव को निर्वाण हुआ था। जो महाशिवस्वरूप ऋषभदेव निर्वाण को पधारे उनकी भक्ति में लोगों ने रात्रिजागरण और धर्मध्यान किया था। ऋषभदेव के समय में कितनी बातें बतायीं जायें? जो कुछ भी सनातन अर्थात् पूर्वरूप है वह ऋषभदेव को लक्ष्य में लेकर होता है। धीरे-धीरे कोई किसी रूप में मानने लगे, कोई कुछ स्वरूप मानने लगे।

योगभक्ति से महापुरुषों का निर्वाण- सकलजनपूजित ऋषभदेव आदि जो जिनेन्द्र हुए हैं और उनके तीर्थ में जो भी मुक्ति पधारे वे सब इस योगभक्ति को करके मुक्त हुए हैं। श्रीराम, हनुमान, इन्द्रजीत, नल, नील, सुग्रीव आदि जो भी महापुरुष मुक्ति को प्राप्त हुए हैं, उन्होंने इस परमयोगभक्ति को अन्त में प्राप्त

किया था। जैनसिद्धान्त में श्रीराम का जो चरित्र बताया है- श्रीराम का अंतिमरूप क्या रहा और सीता का भी अन्तिमरूप क्या रहा, तहाँ एक वर्णन है। बीच में नहीं छोड़ा गया है, कुछ बताकर बीच में बंद कर दिया गया हो, ऐसा नहीं हुआ। श्रीराम बलभद्र थे, इन्होंने उत्कृष्ट योगभक्ति करके निर्वाण को प्राप्त किया। यह इस भारतवर्ष की बात कही जा रही है, अन्य क्षेत्रों में भी अनेक महापुरुष मुक्ति पधारे। इस देश का नाम जो भारतवर्ष रक्खा है, उसका कारण इतिहासकारों ने बताया है कि ऋषभदेव के पुत्र भरत चक्रवर्ती के नाम पर इस देश का नाम भारतवर्ष रक्खा गया था और भरतक्षेत्र नाम यह अनादि नाम है और चूँकि इस भरतक्षेत्र पर भोगभूमि के महान् अंधेरे समय के बाद प्रथम ही प्रथम पूर्ण भरतक्षेत्र पर विजय भरत चक्रवर्ती ने किया था, इसलिए वे भरत नाम से प्रसिद्ध हुए। इस भारतवर्ष में पहिले ऋषभदेव को लेकर वर्द्धमान पर्यन्त चौबीस तीर्थंकर परमदेव हुए हैं।

नाभेय ऋषभदेव- ऋषभदेव का नाम नाभेय है। कुछ बन्धु ऐसी कल्पना करते हैं कि भगवान की नाभि से कमल निकला और उस कमल पर ब्रह्म पैदा हुए। यह ब्रह्म ऋषभदेव है, क्योंकि मोक्षमार्ग की विधि ऋषभदेव ने प्रवर्ताई है और भूली भटकी, विपदा में पड़ी हुई जनता को असी, मसी, कृषि, वाणिज्य, शिल्पी और सेवा के साधन बताकर एक नवीन प्रकाश की सृष्टि की है। ये नाभि नाम के राजा के पुत्र हैं इसलिये इनका नाम नाभेय है। ये नाभि से उत्पन्न हुए हैं, नाभि तो पिता थे मरुदेवी महारानी के कुक्षि से ये पैदा हुए थे। वह पेट में इस प्रकार विराजे रहे जैसे मानो कोई कमल के आसन पर बैठा हुआ हो। जैसे हम आप साधारण लोग गर्भ के जेर में लिपटे रहते हैं, महादुर्गन्धित, अपवित्र, घिनावने जेर में हम आप लिपटे रहते हैं और उत्पन्न होते हैं तो जेर सहित उत्पन्न होते हैं, किन्तु एक नाभिदेव ही क्या, समस्त तीर्थंकर निर्लेप उत्पन्न होते हैं, इनका जन्म भी शास्त्रों में पोतजन्म माना गया है। जैसे हिरण और सिंह पैदा होते ही निर्लेप निकलते हैं और निकलते ही दौड़ने, भागने लगते हैं, मानो इसी प्रकार ऐसे ये महापुरुष निर्लेप उत्पन्न होते हैं, इसलिए इनका आसन कमल कहा गया है। सभी तीर्थंकर कमलासन माने गये हैं अथवा समवशरण में कमल के ऊपर अधर विराजमान् रहते हैं, इससे कमलासन कहे जाते हैं। ये सर्वज्ञ वीतराग जिनकी तीन लोक में कीर्ति फैली हुई है, महादेवाधिदेव परमेश्वर ऐसे आत्मसम्बन्धी परमयोगभक्ति को करके निर्वाण को प्राप्त होते हैं।

जैनेन्द्रमार्ग के आश्रय का अनुरोध- हे मुमुक्षु जनों ! तुम भी उसी मार्ग का आश्रय लो, जिस मार्ग से ये महापुरुष चलकर परम आनन्द को प्राप्त हुए। कुछ लोग कभी यह शंका करने लगते हैं कि निर्वाण में क्या सुख है? अकेले रह गये, न घर, न पैसा, न खाना, न पीना, न कोई बोलने-चालने को, यहाँ कभी कोई अकेला रह जाय तो दिन नहीं कटता और वे अकेले अनन्तकाल तक कैसे रहते होंगे? क्या है सुख यहां? लेकिन यह नहीं जाना कि जिन समागमों से हम सुख मानते हैं, सुख के साधन जानते हैं वे वास्तव में सुख के साधन नहीं हैं, किन्तु आनन्द में बाधा देने वाले हैं।

विषयों की आनन्दबाधकता का दृष्टान्तपूर्वक समर्थन- जैसे किसी नल का पानी बहुत तेजी से निकलता हो और उसमें कोई हाथ की गद्दी अड़ा दे तिस पर भी थोड़ा बहुत पानी की धार अगल-बगल से निकले और कोई पुरुष यह मान ले कि इसने अपनी हथेली से पानी निकाला तो यह कितनी भूल भरी बात है? हथेली ने तो पानी में बाधा डाली, निकाला नहीं। इसी तरह आत्मा का सहज आनन्द अपने आप बड़े। वेग से निकलने को निरन्तर तैयार रहता है, किन्तु उस आनन्द में इन विषयभागों ने एक गद्दी लगाने का जैसा काम किया। वहां आनन्द में बाधा आयी तिस पर भी चूँकि यह आत्मा आनन्दमय है, सो किसी न किसी रूप में यह आनन्द फूट निकलता है, जिसे लोग सांसारिक सुख बोलते हैं। अब वे भ्रम करने लगे हैं कि इन विषयों से, विषय साधनों से सुख मिलता है। सुख यहां नहीं है, सुख तो आत्मा की निराकुलता में है। जहां निराकुलता हुई वहीं आत्मा का हित है, वही वास्तविक आनन्द है। आकुलता उत्पन्न होती है किसी परद्रव्य के सम्बन्ध से। जहां अणुमात्र भी परद्रव्य का सम्बन्ध नहीं है, वहां आकुलता का क्या काम है? पूर्ण निराकुल दशा निर्वाण की होती है।

पुराण पुरुषों की शुभ स्मृति- शुद्धज्ञानानुभूतिजन्य परम-आनन्द अमृतरस से जो निरन्तर तृप्त रहते हैं, समस्त आत्मप्रदेशों में जो आनन्दमय रहते हैं उन्होंने इस योगभक्ति को किया था, जिस परमभक्ति का वर्णन इस अधिकार में बहुत दिनों से चल रहा है। ज्ञानप्रकाश करके, परद्रव्यों की उपेक्षा करके एक सहज स्वभाव में अपनी दृष्टि स्थित करना और परम विश्राम पाना, इसमें है यह उत्कृष्ट योगभक्ति। उस योगभक्ति के प्रसाद से ये योगी निर्वाण को प्राप्त होते हैं। कोई लड़का कुछ गलत रास्ते पर चलने लगे तो लोग उसे समझाते हैं- देख तेरे बाबा-दादा कैसे बड़े कुल के थे, कितनी प्रतिष्ठा थी, कैसा सदाचार था। तुम उस कुल को नहीं निभाते? जरा अपनी भी बात देखो- हम-आप विषयों में, कषायों में और कितने ही लोक अन्यायों में मस्त रहते हैं, दुराचार की प्रवृत्ति कर रहे हैं, अरे कुछ अपने पुराण पुरुषों का ध्यान तो करें। तुम उस कुल के हो जिस कुल में ऋषभनाथ, महावीर, श्रीराम, हनुमान आदि महापुरुष हुए हैं। उनके कुल की परम्परा में हम, आप पैदा हुए हैं, अपने पुरुषों का चरित्र तो निहारों, कैसी उनमें उदारता थी, कैसा धैर्य था, कैसी न्यायप्रियता थी? वे पर के उपकार के लिए अपना सर्वस्व लगाने में उद्यत रहा करते थे, अन्त में सरल संन्यास करके अपने परमब्रह्म की परमभक्ति की थी और सर्वसंकटों से मुक्त होकर परम आनन्द प्राप्त किया।

पुरखा का अर्थ- पुरुखा का अर्थ है पुरुष। पुराने समय में ष को लोग ख बालते थे। षट्पद को खट्पद बोलते थे। ये बहुत से शब्द जिसमें मूर्धन्य ष आये उसे लोग ख बोला करते थे तो पुरुष शब्द का बहुवचन है पुरुषाः, जो महापुरुष होते हैं उनको बहुवचन बोलने की पद्धति है, जैसे कोई साधु आ जाय तो लोग बोलते हैं कि महाराज आ गये, ऐसा कोई नहीं बोलता कि महाराज आ गया है। एक होने पर भी सम्मान भरे शब्दों में बहुवचन का प्रयोग किया जाता है। जो पुराण पुरुष होते हैं उनका नाम बहुवचन से

लिया जाता है, बहुवचन में बोला जाता है पुरुषाः और पुरानी बोली में बोला जाता है पुरुखाः। जो अपनी इस परम्परा में पहिले पुराण पुरुष हुए हैं उन्होंने क्या किया था, सो ही हमें करना चाहिये।

पुरखों का आदर्श ग्रहण- हम अपने पुरखों को तुध तो न लें और नये पुरखों की अटपट बातों को देखकर उनकी हठ कर लें, हमारे दद्दा ने तो ऐसा ही जीवन बिताया था, हम भी ऐसा ही जीवन बितायेंगे, कोई ज्यादा उन्नति न की हो। दो, तीन पीढ़ियों का उदाहरण लेकर अपने को अवनति में ले जाय, इसके लिए तो उन पुरुषों का उदाहरण लेते हैं और धन कमाने में उदाहरण नहीं लेते हैं कि हमारे दद्दा-बब्बा ने ज्यादा धन की कमायी न की थी, गरीबी से जीवन बिताया था, वैसे ही गरीबी से हम भी जीवन बिताये और कोई ओछी बात मिल जाय तो उसके लिए उन पुरुषों का उदाहरण पेश करते हैं। जरा ध्यान से तो सोचो, कुछ ऐसी भी बात हो सकती है कि दिखने में वह ओछी लगती हो, किन्तु उनका उद्देश्य लक्ष्य ऊँचा हो, उसका क्यों पता नहीं रखते? हमें अपने पुराण महापुरुषों की स्मृति करना चाहिये, आखिर हम उनके ही कुल में उत्पन्न हुए हैं।

वास्तविक कुपूती और सुपूती- कुपूत नाम उसका है जो अपने कुल को डुबाये। व्यवहार में हमारा कुल है मोक्षगामियों का। जो व्रतधारी पुरुष थे, उनका कुछ भी अनुकरण न करें तो हम व्यवहार में कुपूत हैं। निश्चय से हमारा कुल है एक चैतन्यस्वरूप। कुल उसे कहते हैं जो चिरकाल तक अपनी संतान बनाये रहे। हमारी संतान शरीरों के रूप में नहीं चलती, आज मनुष्य हैं, गुजरकर कल हो जायें घोड़ा तो कहां रही वह संतान है? आज मनुष्य हैं, पहिले न जाने पशु थे कि पक्षी थे कि मनुष्य थे, न जाने किस जाति के थे, किस कुल के थे। शरीर की परम्परा हमारा कुल नहीं है। हमारा कुल तो चैतन्यस्वरूप है। हम इस चैतन्यस्वरूप को कभी भी न छोड़े। अपना चैतन्यस्वरूप ज्ञानानन्दमय जो पवित्र शुद्ध भाव है, शुद्ध कुल है उसकी रक्षा करें तो इसमें उत्पन्न हुए हम सपूत कहला सकते हैं। अगर भोगविषयों में ही उपयोग बना रहा तो हमने परमार्थ से कहाँ सुपूती की? सुपुत्र तो उसी का ही नाम है जो वंश को पवित्र करे। हमारा वंश है चैतन्यस्वरूप। हम चैतन्यस्वरूप का शुद्ध विकास करने का यत्न करें तो हम वास्तव में सपूत हैं। स्मरण करिये, प्रथमानुयोग के अध्ययन करने से यही बल तो मिलता है कि हमें इस चैतन्य कुल की उन्नति की निरन्तर भावना करनी चाहिये।

परमभक्ति का प्रसाद पाने का उपदेश- इस अंतिम गाथा में यह उपदेश किया जा रहा है कि हमारे पुराण पुरुषों ने इस परमभक्ति को धारण करके निर्वाण के सुख को उत्पन्न किया है। हमारा भी यही कर्तव्य है कि भीतर में श्रद्धा से अंतरंग में इस ही निज ज्ञानप्रकाश को बनाएँ, मैं एतावन्मात्र हूँ, मैं अन्यरूप नहीं हूँ और मेरा तो स्वरूप ही मेरा है। घर, मकान, कुटुम्ब, परिवार कुछ भी मेरा नहीं है। इसकी ओर जितनी प्रीति उत्पन्न होती है वह सब इसके लिये कलंक है और दुर्गतियों में ले जाने का

कारण है। हम कुछ ध्यान तो करें अपने शुद्धस्वरूप का और उस स्वरूप की उपासना करके इस परमभक्ति का प्रसाद पायें।

परमभक्ति अधिकार की समाप्ति का योग- आज यह परमभक्ति अधिकार समाप्त हो रहा है। समाप्त होने का भाव मिट जाना नहीं है। जैसे कि लोकव्यवहार में लोग कहने लगते हैं कि यह तो समाप्त हो गया अर्थात् खत्म हो गया। समाप्त का अर्थ खत्म नहीं है, किन्तु सम् का अर्थ है भली प्रकार से, आप्त मायने प्राप्त हो जाना, जो खूब अच्छी तरह से पूरा मिल चुकना है, उसको समाप्त कहते हैं। इसी तरह सम्पूर्ण उसका नाम है जो पूरी तरह से भरपूर हो गया। आज यह परमभक्ति भाव सम्पूर्ण हो रहा है अर्थात् भली प्रकार से प्राप्त हो रहा है। अवसर की बात है कि आज ही यह भक्ति अधिकार भी समाप्त हो रहा है और आज ही ऋषभदेव का निर्वाण दिवस भी आया है, इसमें जितने भी साधुओं ने निकटभूतकाल में मुक्ति पायी है उन सबका स्मरण किया है। इस चतुर्थकाल के आदि से लेकर चतुर्थकाल के अन्त तक ऋषभदेव से लेकर 24 तीर्थकर, अनेक चक्रवर्ती जिनमें भरत प्रसिद्ध हैं, अनेक बलभद्र जिनमें श्रीराम प्रसिद्ध हैं और अनेक महापुरुष निर्वाण को पधारे, उन सबने भी इसी परमभक्ति को प्राप्त किया था। आत्मा को जो शुद्ध ज्ञानस्वरूप है, जहां केवलज्ञान है, ऐसे उस स्वरूप को प्राप्त किया। धर्म तो यही है।

सम्बोधन- हे कल्याणार्थी जनों ! धर्म के नाम पर भेद मत डालो, उससे कोई सिद्धि न होगी। धर्म तो आत्मा का है, आत्मा को करना है, आत्मा में मिलेगा, आत्मा के द्वारा धर्म किया जायेगा और वह आत्मा के लिए ही होगा। तुम आत्मा हो, तुम्हें अपना भला चाहिए या नहीं? भला चाहिए तो इस आत्मा के नाते आत्मा का चमत्कार निरखो, इस ही में परमात्मतत्त्व का दर्शन है, इस ही में वह समस्त योग है जिससे अद्भुत आनन्द प्रकट होता है।

गुणगुरुवन्दन- जो गुणों में बड़ा है, तीन लोक में जो भी पुण्य है उस समस्त पुण्य की राशि है, ऐसे नाभेय आदिक जिनेश्वरों को भक्तिपूर्वक हम वंदन करते हैं। जिनेश्वर अथवा जिनेन्द्र भगवान, इसका अर्थ यह है कि जिस आत्मा ने रागद्वेषादिक शत्रुओं को जीत लिया है, जो केवल जानन-देखनहार है, विश्वज्ञ और विश्वदर्शी है, उस आत्मा को जिनेन्द्र कहते हैं, उसमें नाम कुछ भी नहीं लेना, नाम लेने से तो एक भेद सामने आकर खड़ा हो जाता है। व्यवहारभक्ति में नाम लेकर भक्ति की जाती है, किन्तु परमभक्ति में नाम, कुल, जाति, शरीर, ये सब ध्यान में न लेना, केवल ऐसे ज्ञानपुञ्ज जिन्होंने रागादिक विभावों को नष्ट किया है और अपने शुद्ध स्वभाव को प्राप्त किया है उसका इसमें स्मरण करना। यह जिनेश्वरदेव देवेन्द्रों के द्वारा पूज्य है।

वीतरागता का प्रभाव- भैया ! जरा विचार तो करो- उन देवेन्द्रों को क्या मिल रहा है इस प्रभु के भजन में? अपना सारा तन, मन, न्यौछावर किए जा रहे हैं और यहां मनुष्यों को क्या मिल रहा है प्रभु की भक्ति भजन में? अपना तन, मन, धन सब कुछ न्यौछावर किए जा रहे हैं। कुछ भी तो साक्षात् नहीं मालूम

होता। घंटों पूजा करो तो भी वह एक रूपया तक देने में भी समर्थ नहीं है, भूख लगी हो तो वह कुछ चनों का साधन दे दे, ऐसा भी नहीं होता, पर क्या वजह है कि ये मुनिनाथ, ये देवेन्द्र सब कोई प्रभु के चरणों में झुकते चले जा रहे हैं? वह है एक वीतरागता का प्रताप। जीव की ऐसी आदत है कि जिसे वह रागी समझता है उसमें अंतरंग से प्रेम नहीं करता और जिसे निष्पक्ष, रागद्वेषरहित समझता है उस पर वह लट्टू हो जाता है। वीतरागता सब आकर्षणों में प्रधान आकर्षण की चीज है। हम सब भी आत्महित चाहते हैं और आत्महित इस वीतरागता में मिल सकता है, अतएव सब कुछ साधन न्यौछावर करके इस वीतरागता की पूजा करना है।

वीतरागता उपनाम अहिंसा- वीतरागता क्या है? रागद्वेषरहित शुद्ध ज्ञानप्रकाश। वही अहिंसा है, वही सत्य है, वही परमशील है, वही प्रभु और वही हमारा आराध्यदेव है। निष्पक्ष होकर रागद्वेष तजकर एक इस परमात्मा की शरण आएँ, अन्यत्र कहीं बाहर में आँखें पसारकर देखने में वह परमात्मा न मिलेगा, किन्तु इन्द्रियों को संयत करके अपने आपमें निर्विकल्प परमविश्राम लेने से इस प्रभु के स्वानुभव की पद्धति से दर्शन होंगे, ये प्रभु वास्तविक सौन्दर्य के स्वामी हैं, वास्तविक सौन्दर्य पदार्थ अपने-अपने सहजस्वरूप में है, परवस्तुओं की लपेट करके जो सुन्दरता बनायी जाती है उसमें आभा नहीं होती है। जैसे कुछ स्त्री पाउडर या सफेद चीजें पोतकर अपनी सुन्दरता को दिखाना चाहती हैं, पर देखने वाले की समझ में जब आता है कि इसने तो पाउडर पोता है तो उसकी दृष्टि में सुन्दरता नहीं विराजती, उसे तो उसका रूप विरस लगने लगता है। बनावटी परद्रव्यों का सम्बंध बनाकर सुन्दरता नहीं बनती। वास्तविक सौन्दर्य तो पदार्थ के अपने ही सहजस्वरूप में बसा हुआ है।

सुन्दर शब्द की व्युत्पत्ति- शब्दव्युत्पत्ति से देखो सुन्दरता कोई भली चीज नहीं है। सुन्दर शब्द ही इस अर्थ को बताता है। सुन्दर शब्द में 3 विभाग हैं- सु, उन्द और अर, सु उपसर्ग है, उन्दी क्लेद ने धातु है, अरच् प्रत्यय है, जिसका अर्थ है जो भली प्रकार तकलीफ दे, क्लेश दे, सो आप जान ही गये होंगे कि लोक में जिन चीजों को हम सुन्दर कहते हैं वे ही चीजें लौकिक जनों को खूब तड़फा-तड़फा कर काट दिया करती हैं, लेकिन इस सुन्दर शब्द का प्रयोग मोही जीवों ने एक मनोरम वस्तु के लिए किया है।

मनोरम स्वरूप- मनोरम शब्द अच्छा है, जो मन को रमाये उसे मनोरम कहते हैं। मनोरम अथवा अभिराम तो यह आत्मस्वरूप है। जिसका ज्ञान तीन लोक, तीन काल के समस्त द्रव्य गुण पर्यायों को जानता है, उससे बढकर और कुछ भी चमत्कार हो सकता है क्या? यह अनन्त चमत्कार, एक ज्ञायकस्वरूप इस अन्तस्तत्त्व की उपासना में है, इस शुद्ध ज्ञानानन्द के परमविकासरूप प्रभु को हमारा वंदन हो।

जिनसिद्धान्त, उपनाम आत्मसिद्धान्त- एक बात ध्यान में लाने की है कि जैन सिद्धान्त को अर्थात् धर्मसिद्धान्त को राग-द्वेष को जिन्होंने जीता है, ऐसे जिनेन्द्र भगवान ने कहा है इसलिए इसे जैन सिद्धान्त

कहते हैं। कहा उन्होंने वही है जो प्रत्येक वस्तु के स्वभाव में बसी हुई बात है। इसे आत्मसिद्धान्त कहो, चाहे धर्मसिद्धान्त कहो, इस सिद्धान्त में एक शुद्ध ज्ञानस्वरूप की पूजा है। किसी आत्मा ने जिस किसी भी मनुष्य पर्याय को पाकर इस ज्ञानस्वरूप का आराधन किया है वे महापुरुष कर्मजाल को नष्ट करके निर्वाण को प्राप्त हुए और उन्होंने यह अनन्त ज्ञानस्वरूप का विकास पाया। अतएव हम नाम लेकर पूजते हैं ऋषभदेव, महावीर, श्रीराम, हनुमान आदि करोड़ों मुनि मुक्ति गये हैं हम नाम लेकर पूजते हैं, पर नाम पर आग्रह नहीं करना है, वह तो हमारी व्यवहारभक्ति है। जो भी अंतस्तत्त्व है, जिसका शुद्ध विकास है उसका स्मरण करना, उससे ही धर्म मिलता है और शुद्ध आनन्द का झरना झरता है। मैं इस ज्ञानपुन्ज की भक्ति क्यों करता हूँ? इसलिए कि हमारा अपुनर्भव हो। पुनर्भव कहते हैं, फिर से जन्म लेना और अपुनर्भव उसे कहते हैं कि फिर से जन्म न लेना पड़े।

अपुनर्भव का ध्येय- हे कल्याणार्थी पुरुषों ! अपने आपमें यह निर्णय बनावो कि मुझे मनुष्य जीवन से जी कर क्या करना है? अपुनर्भव की प्राप्ति करना है। ये महल, मकान अंत में मेरा साथ न देंगे, यहां के मायामय प्राणियों में अपना नाम जाहिर करके नर-भव नहीं खोना है, जिनमें नाम जाहिर करेंगे, वे स्वयं मर मिटने वाले हैं और जो जाहिर की सोचते हैं वे भी नर मर मिटने वाले हैं, कौन-सा लाभ मिलेगा? मुझे तो अपुनर्भव की प्राप्ति चाहिए। फिर इस जीवन में यदि लौकिक हानि हो जाय, कुछ पैसा घट रहा है अथवा कोई इष्टजन मर गये हैं या अन्य कुछ भी इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग हो रहा है तो पक्का चित्त करिये, उससे हानि कुछ न समझो और इस सम्पदा के लाभ में लाभ कुछ न समझो।

समागम की असारता- भैया ! दृश्यमान् यह सब तो मोह की नींद का एक स्वप्न है। जैसे स्वप्न में देखी हुई चीज केवल कल्पना है, वह मेरी नहीं हो जाती, इसी प्रकार यहाँ भी देखी हुई चीजें एक कल्पना है। वे मेरी नहीं हो सकती हैं। यह देह तक भी मेरा नहीं है और की तो बात क्या कही जाय? अपने आपमें यह निर्णय बनावो कि हमने जीवन पाया है तो धर्ममय होने के लिये, अपुनर्भव प्राप्त करने के लिये आत्मसाधना करने के लिए जीवन पाया है और किसी अन्य प्रयोजन के लिए नहीं। यह प्रयोजन पक्का बनावो, नहीं तो धोखा ही धोखा खाना पड़ेगा।

अन्तस्तत्त्व के अनुभव का चिन्तन- यहाँ योगी चिन्तन करता है कि मैंने गुरु के सांनिध्य में रहकर निर्मल हितकारी धर्म को प्राप्त किया। मैंने ज्ञान द्वारा इस समस्त मोह को नष्ट किया है। अब उस रागद्वेष की परम्परा को तजकर अपने चित्त में वैराग्य की वासना बनाकर आनन्दमय इस ज्ञानस्वरूप तत्त्व में स्थित होकर मैं परमब्रह्म में लीन होता हूँ। देखिये अपने आपका जितना बाह्य अंतरंगरूप से परिचय हो जायेगा वैसे ही वैसे ये विशेष भाव विकल्प तरंगे बुझती चली जायेंगी और निर्विकल्प स्थिति होने पर जो कुछ इसे ज्ञानप्रकाश नजर आता है उसे तो 'यह मैं हूँ' इतना तक भी विकल्प करके ग्रहण नहीं होगा, किन्तु एक ज्ञानप्रकाश का अनुभव और आनन्द होगा। यह परमब्रह्मस्वरूप एक है, इतना तक भी विकल्प योगी के

नहीं होता। जो इस ब्रह्मस्वरूप का अनुभव करता है उसके यह भी विकल्प नहीं है कि वह एक है और सर्वप्राणियों में व्यापक है। वह तो एक विशुद्ध आनन्दरस का भोक्ता होता है। मैं इस आनन्दमय अंतस्तत्त्व का अनुभव करूँ और इस ही में लीन होऊँ।

आत्मवैभवप्राप्ति के साधन- बड़े-बड़े योगीश्वरों ने भी जो कुछ आत्मवैभव पाया है वह इन चार प्रबल साधनों द्वारा पाया है। प्रथम तो उन्होंने शास्त्रों का गहन मनन किया, द्वितीय बात- अनेक युक्तियों का अवलम्बन किया, जिसमें कोई दोष नहीं, अविनाभाव से परिपूर्ण ऐसी युक्तियों द्वारा भी इस परमब्रह्म का परिचय पाया है। तीसरी बात- गुरुओं के चरणों की निश्छल, निष्कपट, अंतरंग हृदय से उपासना की है, उनके प्रसाद से यह परमवैभव मिला है और चौथी बात यह है- फिर स्वयं भी अपने अनुभव से उस ज्ञान का ऐसा स्वाद लिया है कि जहाँ से यह आनन्दरस स्वतः ही झरता है।

यतिपना- भैया ! अपने हृदय में इतनी बात तो लावो कि यह सम्पदा तृणवत् है, असार है, इससे इस अनुपम आत्मा को कुछ लाभ नहीं होता है। यह आत्मा तो अपने आत्मस्वरूप को संभाले तब इसको लाभ प्राप्त होगा। अपने जीवन का दृष्टिकोण बदल दो और दिगम्बरता का अपने चित्त में प्रोग्राम बनावो। इस जीवन में यदि ऐसी निर्ग्रन्थ अवस्था भी न हो सके, किन्तु दृष्टि आकिन्चन्य की बनाने से कुछ लाभ प्राप्त कर लिया जा सकता है। जिन योगीश्वरों को इन्द्रियलोलुपता नहीं रही, किन्तु एक तत्त्वलोलुपता ही रही अर्थात् अंतरज्ञान का मर्म प्रकाश में पायें, ऐसा ही जिनका यत्न रहे उनके निरन्तर आनन्द झरता है, एक अद्भुत निराकुल स्वरूप आनन्द प्रकट होता है। यति उसे ही कहते हैं जो इस निज परमब्रह्म की उपासना से उत्पन्न होने वाले आनन्द के लिये यत्न किया करता है, वह ही वास्तव में जीवन-मुक्त है, संसार के क्लेशों से दूर है।

परमप्रियभक्ति का उत्साह- इस परमभक्ति के उपन्यास में एक अपना संकल्प बनाएँ, यह एक स्वरूप परमतत्त्व जो रागद्वेषादि द्वन्द्व से भिन्न है, जो किन्हीं दो रूप नहीं है, निष्पाप है, उस अंतस्तत्त्व की मैं बारबार भावना करता हूँ। क्या प्यारा है तुम्हें सबसे अधिक? ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर यह आना चाहिए कि हमें तो इस नर-जीवन का लाभ उठाना है, वह लाभ जिसमें हो, यही हमें सबसे प्रिय है। जिसे केवल परिजन, धन, सम्पदा ही प्रिय हैं उसने समझो अपने जीवन को खो दिया है। जो स्वाभाविक आनन्द का अनुभव कर लेता है, मुक्ति की ही जो चाह रखता है उसका तो यही उत्तर रहता है कि मुझे न चाहिएँ संसार के सुख। जैसे ताजी पूड़ियाँ परोसी जा रही हैं और कोई चार दिन की बासी बफूड़ी पुड़ियाँ परोसने लगे तो उन्हें कोई भी लेना नहीं पसंद करेगा। ऐसे ही जिसे आत्मीय आनन्द प्रकट हुआ है वह संसार के सुखों को न चाहेगा। मैं भी इस एकाकी ज्ञानस्वरूप तत्त्व की स्पृहा करता हूँ। मुझे संसार का कोई सुख न चाहिए। उसे कोई कितना ही धन-सम्पदा का प्रलोभन दे, पर उसके प्रलोभन में वह न आयेगा, वह तो

अपने परमहितस्वरूप ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मतत्त्व की ही भक्ति करेगा। इस प्रकार परमभक्ति अधिकार समाप्त होता है अर्थात् भरपूर होता है।

नियमसार प्रवचन नवम भाग समाप्त